जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति के कुछ उपाय

(मध्यप्रान्त के शिक्षा-विभाग द्वारा नार्मल स्कूलों के लिए स्वीकृत)
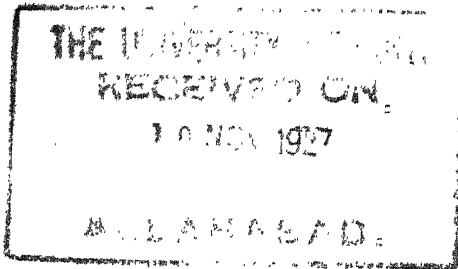
लेखक,

पं० माधवराव सप्रे० बी० ए०

जीवन-संग्राम में विजयप्राप्ति के कुछ उपाय

विद्यार्थियों के लिये अत्युपयोगी २० लेखों का संग्रह

लेखक

श्रीमान् पण्डित माधवराव सप्रे, बी० ए०

प्रकाशक

रामजीलाल शर्मा

हिन्दी प्रेस, प्रयाग

संवत् १९८४ वि०

मूल्य १) एक रुपया

निवेदन ।

हमारी विशेष प्रार्थना करने पर हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और देशभक्त पण्डित माधवराव सप्रे, बी० ए० ने कृपा करके "विद्यार्थी" में प्रकाशित करने के लिए एक 'लेखमाला' लिख कर हमें दी थी। उस लेखमाला का नाम था

"जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति के कुछ उपाय"

यह लेखमाला "विद्यार्थी" के भाग २ अङ्क ३ से आरम्भ हुई थी और भाग ४ अङ्क १२ में सम्पूर्ण हुई थी। यह लिखते हुए हमें हर्ष होता है कि इस लेखमाला का प्रत्येक लेख विद्यार्थी के ग्राहकों को बहुत ही पसन्द आया। उन्हीं के आग्रह से वही लेखमाला पुस्तकाकार प्रकाशित की जाती है। वास्तव में यह लेखमाला है ही अपूर्व। हिन्दी में ऐसा अच्छा संग्रह अभी तक कहीं नहीं छपा। श्रीयुत सप्रेजी ने ऐसी अच्छी लेखमाला लिख कर हिन्दी जानने वाले नवयुवक विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है। वास्तव में इस लेख-माला का एक एक लेख एक एक लाख रुपये का है। नव-युवकों के लिए जो शिक्षायें इनमें दी गई हैं वे अमूल्य हैं। भारत के प्रत्येक नवयुवक को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। मिडिल और एन्ट्रेंस के विद्यार्थियों के लिए तो यह पुस्तक पाठ्य-पुस्तकों मे स्वीकृत होने योग्य है। देशी पाठशालाओं के अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने अधिकृत विद्यालयों में शीघ्र ही इस पुस्तक का स्वागत करें। प्रत्येक माता पिता का धर्म है कि वे इस पुस्तक की एक एक प्रति अपनी सन्तान के हाथों में अवश्य दें। यह पुस्तक लड़कों के लिए जितनी उपयोगी है उतनी ही लड़कियों के लिये भी है। आशा है हिन्दी जाननेवाली जनता इस पुस्तक से लाभ उठावेगी।

—प्रकाशक

विषय-सूची।

जीवन संग्राम में विजय-प्राप्ति के कुछ उपाय

१—शारीरिक स्वास्थ्य

"practical success in life depends more upon physical health than is generally imagined."

—Self help.

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

नुष्य का जीवन यथार्थ में एक प्रकार का संग्राम ही है। इस जीवन में प्रत्येक मनुष्य के सामने सुख और दुःख, भला और बुरा, सच और झूठ, हित और अनहित, जय और पराजय आदि द्वन्द्वरूपक भिन्न भिन्न दो मार्ग खुले रहते हैं। इन मार्गों में से किसी एक को पसन्द करना या ना पसन्द करना और उसके अनुसार बर्ताव करना प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्र बुद्धि के अधीन है। कोई कोई तो इस मानव जीवन

को केवल दुःखमय और कंटकपूर्ण कहते हैं और सदा उसकी निन्दा ही किया करते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञों की दृष्टि से यह संसार, अर्थात् हमारा मानवी जीवन, सुखमय बनाया जा सकता है। यही सोचकर काव्यक्षेत्र के नूतन मार्गदर्शक कवि पंडित श्रीधर पाठक अपने "जगत-सचाई-सार" में कहते हैं:—

"कहो न प्यारे मुझको ऐसा झूठा है यह सब संसार।
थोथा झगड़ा, जी का रगड़ा, केवल दुख का हेतु अपार॥"

वास्तव में यह संसार, अथवा हमारा जीवन न तो केवल दुःखपूर्ण है और न केवल सुखपूर्ण। हेल्प्स साहब अपने निबन्धों में लिखते हैं—There is no unmixed good or happiness in this world. सच है, यह जीवन सुख और दुःख का मिश्रण है। और, अनुभव से भी यही बात सिद्ध होती है कि इसको दुःखी बनाना अथवा सुखी बनाना हमारे हाथ में है। वालपोल के मत के अनुसार यह जीवन उन लोगों के लिए सुखमय है जो सोच विचार किया करते हैं, परन्तु जो लोग केवल अपनी इन्द्रियों के विकारों के अधीन हैं उनके लिए यह जीवन सचमुच दुःखपूर्ण है। * तात्पर्य यह है कि हम अपने जीवन को जैसा बनाना चाहें वैसा बना सकते हैं—As a rule, Life is what we choose to make it.

---

*Life has been described by Walpole as "A comedy to those who think, tragedy to those who feel."

—The use of life.

अब प्रश्न यह है कि हम अपने जीवन को सुखपूर्ण कैसे बनावें ? इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो जान बूझ कर दुःख की चाह करे। प्रत्येक व्यक्ति की यही इच्छा बनी रहती है कि मुझे सुख, शान्ति और जय प्राप्त हो। परन्तु इसका क्या कारण है कि, इच्छा न रहने पर भी, अन्त में हम को दुःख और पराजय ही मिलता है ? कारण यही है, कि हम उन उपायों को नहीं जानते (और यदि जानते भी हैं तो उनका यथार्थ उपयोग नहीं कर सकते) जिनकी सहायता से हम इस जीवन-संग्राम में दुःख को टाल सकें और सुख की प्राप्ति कर सकें। प्यारे विद्यार्थियों ! तुम लोग पाठशालाओं में ऐसी शिक्षा पाने के लिए पढ़ रहे हो जिसकी सहायता से तुम अपने जीवन-संग्राम में सुख और विजय की प्राप्ति कर सको। ऐसी अवस्था में तुम्हारे लिए यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है, कि जीवन की सफलता की कुञ्जी क्या है ? यह बात तुम्हारे ही लिए आवश्यक नहीं है किन्तु उन सब लोगों के लिए भी है जो इस संसार में जन्म लेकर अपने जीवन की सार्थकता करना चाहते हैं। अतएव इस लेखमाला में हमने ऐसी बातों की चर्चा करने का निश्चय किया है जिनके जान लेने से हम लोग अपना जीवन सुख और शांति से व्यतीत कर सकें। इस लेखमाला का पहला पुष्प 'शारीरिक स्वास्थ्य' है।

क्या आपने कभी विचार किया है कि आपको यह सार-युक्त संसार नित्य सारहीन और दुःखमय क्यों दीख पड़ता है ? क्या आपने कभी इस बात के सोचने की चिन्ता की है कि आपके नित्य निस्तेज और आलसी दीखने का क्या कारण हो सकता है ? और, क्या आपने कभी यह सोचना अपना धर्म समझा है कि इस समय अधिकांश भारतवासियों

की कर्तृत्व शक्ति दिनों दिन क्यों घटती चली जा रही है? कदाचित् आप इन प्रश्नों को महत्त्वपूर्ण न समझते होंगे और यह कहेंगे कि हम तो इस समय अपने स्कूल, कालेज, आफ़िस, व्यापार, व्यवसाय और रोज़गार का ही काम बहुत है, फ़ुरसत बिलकुल नहीं है जो इन बातों पर ध्यान दें। परन्तु स्मरण रखिए, यदि आप इन प्रश्नों की ओर उचित ध्यान न देंगे तो अन्त में आपकी हानि होगी, क्योंकि इन विषयों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष आपके जीवन के साथ लगा हुआ है। इन विषयों पर सोचने के लिए आपको फ़ुरसत निकालनी ही चाहिये।

हमारे सनातन हिन्दू-धर्म के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को मानव-जीवन का ध्येय माना है। यदि आप भी इसको मानते हों तो सोचिए कि इन चारों पदार्थों की सिद्धि की जड़ क्या है? क्या आप नहीं कहेंगे कि आरोग्य अथवा शारीरिक स्वास्थ्य ही इन सब बातों की नींव है? जिसने इस विषय में ध्यान नहीं दिया उसने मानो अपने जीवन के उद्देश के साधनों में से एक प्रधान अङ्ग को ही तोड़ डाला! स्वास्थ्य के महत्व के विषय में "धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूल-कारणम्" "Health is wealth" "तन्दुरुस्ती हज़ार नियामत", इत्यादि लोकोक्तियां जगत् प्रसिद्ध हैं। इसकी प्रशंसा ही में लेख को अधिक बढ़ाना उचित न होगा इसलिए बाइबिल का एक वाक्य लिखकर इस विषय को यहीं समाप्त कर देंगे।

सेन्टपाल का कथन है—"What! know ye not that your body is the temple of the Holy Ghost which is in you, which ye have of God, and ye are not your own?" सच है, हमारा यह शरीर ईश्वर का

निवास-स्थान है। उसकी रक्षा करना, उसको नीरोग रखना और बलवान् बनाना हमारा प्रथम धर्म है।

वर्तमान समय में इस विषय का महत्त्व और अधिक बढ़ गया है। प्राचीन समय में बहुतेरे लोग देहातों में रहते थे, खुले मैदानों की हवा पाते थे, खेती-बारी के कामों में मिहनत किया करते थे और अपने शरीर को बलिष्ठ बनाये रखने की ओर विशेष ध्यान दिया करते थे। आजकल शहरों में रहने वालों की संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। यहाँ ऐसे मकानों, दुकानों और कारखानों में रहना पड़ता है कि जहाँ आरोग्यता का विघात सहज ही में हो जाता है। शहर-निवासियों के दैनिक व्यवसाय भी ऐसे होते हैं जिनके कारण शरीर की अपेक्षा मस्तिष्क ही को अधिक मेहनत करनी पड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि शहर में रहनेवालों में से अधिकांश जन सदा रोगग्रस्त बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में हमारे स्वास्थ्य को बिगाड़नेवाले कई दुर्व्यसन भी प्रचलित हो रहे हैं। इनका विस्तृत वर्णन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है, तथापि यह लिख देना आवश्यक जान पड़ता है कि तमाखू, मद्यपान आदि व्यसनों के कारण नई पीढ़ी के नवयुवकों में अनेक नये रोग दिखाई देने लगे हैं। पश्चिमी शिक्षा और स्वाधीनता की चकाचौंध से हम लोग इतने चौंधिया गये हैं कि इन्द्रियदमन जैसे सनातन तत्व को बिलकुल भूल गये हैं। किसी कवि का वचन है—

"आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥"

अर्थात् इन्द्रियों के वश में रहने से ही विपत्ति आती है और उनको जीतने से, दमन करने से, सुख मिलता है। प्रत्येक

व्यक्ति के लिए ये दोनों मार्ग खुले हैं । जिस मार्ग से जाना चाहो, जा सकते हो । खेद की बात है कि हम अपने शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये इन्द्रियदमन (Self control) की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते । ऊपर जिन कारणों का उल्लेख किया गया है उनके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं है । सिर्फ़ मद्यपान के विषय में दो एक महात्माओं के वचन उद्धृत किये जाते हैं । यहूदियों में एक प्राचीन कहावत है "Where satan can not go in person, he sends wine,—" जहाँ शैतान स्वयं जा नहीं सकता वहाँ वह शराब को भेजता है । चौलिस नाम का ग्रन्थकार लिखता है-

Once the demon enters
    Stands within the door,
Peace and hope, glad-ness,
    Dwell there never more."

जब एक बार यह राक्षस घुस पड़ता है तब अन्दर ही बना रहता है । इसके बाद वहाँ शान्ति, आशा और आनन्द का विनाश कभी हो नहीं सकता । शेक्सपियर के ग्रन्थों में तो शराब की निन्दा में अनेक उत्तमोत्तम वचन पाये जाते हैं । उनमें से नमूने के लिए लीजिए—

"Oh that men should put an enemy in their mouths. To steal away their brains, that we should with joy, pleasance revel and applause, transform ourselves into beasts."

कैसे आश्चर्य की बात है कि मनुष्य इस मदिरा रूपी शत्रु को अपने मुख में रखते हैं ! यह उनके मस्तिष्क ही को हर लेता है और अन्त में उन्हें पशु के समान बना देता है ।

अब हम कुछ उपायों का उल्लेख करते हैं जिनका अवलम्बन करना हमको अपने आरोग्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

सबसे पहला उपाय **ब्रह्मचर्य** है। प्यारे पाठको! क्या आपने भीष्म पितामह, महावीर हनुमान, भीमसेन, अर्जुन आदि का नाम नहीं सुना? क्या आप जानते हैं कि इन लोगों के अतुल सामर्थ्य का रहस्य क्या है? यह बात सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य ही आरोग्य, बल और वीर्य का जन्मदाता है। ब्रह्मचर्य से वीर्य की रक्षा होती है और संसार में सुख के नाम से जो बातें प्रसिद्ध हैं वे सब प्राप्त होती हैं। किसी महात्मा का वचन है "वीर्य शक्ति है, शक्ति जीवन और तरुणाई है, शक्ति की कमी बुढ़ापा है, और शक्ति का नाश ही मृत्यु है।" तात्पर्य यह है कि हम लोगो को कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे हमारे ब्रह्मचर्य की हानि हो।

स्नान, भोजन, स्वच्छता आदि

इन विषयों की शिक्षा हम लोगों को छुटपन ही से मिलनी चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य के लिये इन बातों की आवश्यकता में कुछ भी सन्देह नहीं है, परन्तु इन बातों की ओर उचित ध्यान न देने से बहुत हानि होती है। आजकल के डाक्टरों की राय है कि हिन्दुस्तानियों में स्वच्छता और सफ़ाई की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है और इसीलिए वे सदा रोगी और निर्बल बने रहते हैं। बात सच है। इसका एकमात्र उपाय यही है कि इस विषय पर कुछ व्यावहारिक शिक्षा दी जाने का प्रबन्ध हमारी पाठशालाओं में किया जाना चाहिए। विस्तार के भय से इस विषय के नियमों का विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता।

वायुसेवन और व्यायाम

हमारे आयुर्वेद के ग्रन्थों में कहा है—

"लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्ताग्नि मेदसःक्षयम् ।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥"

अर्थात् कसरत करने से शरीर हलका और काम करने में समर्थ रहता है अग्नि तेज़ होती है, मोटापन दूर होता है, और शरीर पुष्ट होता है। जिसका शरीर व्यायाम से दृढ़ हो चुका है उसको व्याधि कभी नहीं सताती। खेलकूद, कसरत, वायुसेवन आदि व्यायाम के अनेक भेद हैं। हर्ष की बात है कि आजकल इस विषय पर कुछ अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। इस विषय पर अनेक महत्त्व-पूर्ण और स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गए हैं । यहां सिर्फ इतनी सूचना दे देना आवश्यक है कि विद्यार्थियों के लिए बुद्धि का विकाश जितना आवश्यक है उतना ही शरीर का स्वास्थ्य भी है। इसलिए भूलकर भी व्यायाम से घृणा नहीं करनी चाहिये।

नींद

भोजन की तरह नींद भी प्राणरक्षा के लिए आवश्यक है। सुखमय नींद प्राप्त करने के लिए हमें दिन में अपनी शक्ति के अनुसार काम करते रहना चाहिये। अधिक सोने से या अधिक जागने से कई प्रकार की बीमारियाँ पैदा होती हैं, इसलिए अपनी अवस्था के आवश्यकतानुसार ही सोना चाहिए। अशक्त और विद्याभ्यासी बालक यदि नौ घन्टे तक भी सोते रहें तो कुछ हानि नहीं । प्रकृति के नियम के अनुसार सोने का समय रात्रि ही है । इसलिए दिन को बिना किसी सच्चे कारण के नहीं सोना चाहिए । बालकों के लिए

१० बजे रात से अधिक देर तक जागते रहना हानिकारक है। यह कहावत प्रसिद्ध ही है—

"Early to bed and early to rise,
Makes a man healthy wealthy and wise."

मानसिक स्वास्थ्य

स्मरण रहे कि शरीर की सुस्थिति के लिये सूक्ष्म रूप से मन ही मूल कारण है। हमारे शरीर में जितने रोग होते हैं उनमें से प्राय: सबके सूक्ष्म बीज पहले हमारे मनही में उत्पन्न होते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् लार्ड एव्हबरी का कथन है कि—

"Many bodily ailments have their origin in the mind." क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, दु:ख, भय, उदासीनता, सन्ताप, चिन्ता आदि मानसिक विकारों से हमारी आयु का नाश हो जाता है। यदि हम अपने मन के इन विकारों को अपने अधीन रखने का प्रयत्न न करें तो स्वास्थ्य रक्षा के अन्य नियमों के पालन करने से भी कुछ विशेष लाभ न होगा। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि सैण्डो की व्यायाम-पद्धति में मन की इच्छा-शक्ति ही को प्रधान महत्त्व दिया गया है। तात्पर्य यह है कि शारीरिक स्वास्थ्य के हेतु किसी उपाय का अवलम्बन करते समय हमको अपने चित्त की प्रसन्नता की ओर बहुत ध्यान देना चाहिए। यदि हमारा मन प्रसन्न, आनन्दित, शान्त और अपने स्वीकृत कार्य में एकाग्र रहेगा तो निस्सन्देह व्यायाम आदि उपायों से हमारे शरीर का स्वास्थ्य ठीक ठीक बना रहेगा।

सारांश यह है कि आरोग्यता से इस संसार के सब सुख प्राप्त हो सकते हैं। जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्त करने के लिए

यही सबसे बड़ा और पहला उपाय है। इसकी सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य, स्नान, भोजन, स्वच्छता, वायुसेवन, व्यायाम, नींद, मानसिक स्वास्थ्य आदि जिन उपायों का वर्णन संक्षेप में यहाँ किया गया है उन पर हमारे पूजनीय प्राचीन ऋषियों ने बड़े बड़े ग्रन्थ लिख रक्खे हैं। यदि हम आरोग्यता की ओर उचित ध्यान न देंगे तो हमें सदा यही कहना पड़ेगा कि "तन रोगों की खान है" और "यह संसार असार है।" रोगी मनुष्य अपने कुटुम्ब के लिए भार तो हो ही जाता है, परन्तु वह स्वयं अपने जीवन को भी भार रूप मानने लगता है। व्याधि से अधिक भयानक शत्रु इस संसार में कोई नहीं है। इससे अपने शरीर को सदा बचाये रखने का प्रयत्न करना प्रत्येक मनुष्य का पवित्र कर्तव्य है।

२—समय का सद्व्यय

"Each day is a little life"—

(THE PLEASURE OF LIFE.)

प्रत्येक दिन हमारे जीवन का एक अंश है।

प्यारे विद्यार्थियों! गत लेख में यह बतलाया गया है कि मनुष्य का—विशेष करके विद्यार्थियों का—सबसे पहला कर्तव्य शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा है। बिना नीरोगता के किसी प्रकार की उन्नति यथेष्ट समय में कभी हो नहीं सकती। परन्तु यदि हम केवल स्वस्थ रह कर अन्य उपयोगी बातों की ओर दुर्लक्ष करें तो भी हमारा मानवी जीवन सफल नहीं हो सकता, क्योंकि यह जीवन अनेक बातों का मिश्रण है अर्थात् हमारी सांसारिक सफलता के अनेक अंग हैं। यदि आरोग्यता उन्नति का मूल है तो समय का सदुपयोग करना भी उन्नति का एक प्रधान और अत्यावश्यक अंग है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हमको ईश्वर ने सबसे अधिक क़ीमती वस्तु 'समय' ही दी है। परन्तु यदि हम पक्षपातरहित होकर स्वीकार करें तो कहना पड़ेगा कि हम किसी भी वस्तु का, समय से अधिक, दुरुपयोग नहीं करते। बहुधा लोग धन-सम्बन्धी बातों में थोड़ा बहुत विचार किया ही

करते हैं परन्तु वे समय की कुछ परवा नहीं करते। लेकिन समय धन से भी अधिक मूल्यवान् है। गया हुआ धन मिहनत करने से फिर भी मिल सकता है, भूली हुई विद्या पठन से फिर भी आ सकती है, बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य भी कभी कभी औषध द्वारा सुधर सकता है, परन्तु गया हुआ समय हमको हज़ार सिर पटकने पर भी, कभी नहीं मिल सकता। इंगलैंड की जगद्विख्यात महारानी इलीज़ाबेथ का जब मृत्युसमय निकट आया तब वह चिल्ला उठी "यदि कोई मुझे क्षण भर के लिए बचा दे तो वह असंख्य धन पावे।" परन्तु अब पश्चात्ताप करने से क्या हो सकता था! अपने जीवनकाल में तो उसने ऐसे सैकड़ों 'क्षण' की कुछ परवाह नहीं की थी. अब चाहे वह असंख्य धन और सारा राज्य दे देती तो भी गया हुआ समय फिर कैसे मिल सकता था? यदि कुछ मिल सकता था तो पश्चात्ताप!! स्मरण रहे कि समय की क़ीमत न समझने के कारण एक दिन हमें भी घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। किसी ने सच कहा है:—

"The moments we forego
Eternity itself cannot retrieve"

जिन 'क्षणों' को हम खो देते हैं उन्हें हमें फिर दिलाने की शक्ति संसार में किसी को नहीं है। गया हुआ समय न तो बुलाने से आता है न ख़रीदने से मिल सकता है। यदि समय इतना बहुमूल्य है तो हमें उचित है कि, हम एक पल भी व्यर्थ न जाने दें।

समय का महत्त्व तो इतना भारी है, फिर हम उसे खो कैसे देते हैं? केवल अपनी असावधानी और टालाटूली की आदत से। देखिए (१) हम सवेरे का समय यह सोच कर

नष्ट कर डालते हैं कि इस समय के काम को हम दो पहर में कर लेंगे इसका मतलब तो यही होता है कि हमारे पास सौ रुपये हैं। जिनमें से हम पचास रुपयों को फेंक दे सकते हैं! सबेरे के काम को दूसरे समय के लिये टाल देने में उस काम के होने में तो संशय रहता ही है, पर साथ साथ हममें सुस्ती और टाल टूल करने की आदत भी बढ़ती जाती है। (२) बहुत से लोग अपना समय पहनने ओढ़ने और अपने स्वांग बनाने में ही खराब कर डालते हैं। इन्हें रात दिन हजामत और पोशाक की ही फ़िकर पड़ी रहती है। लेकिन इससे लाभ क्या होता है? हां, ये लोग चिकने अवश्य दीखने लगते हैं, पर इतने से कुछ नहीं होता। शरीर और कपड़ों की सफाई पर ध्यान तो बेशक देना चाहिए, परन्तु इसी में अपने जीवन की सार्थकता नहीं माननी चाहिए। (३) बहुत से आदमी अपना बहुत सा समय नाम मात्र के हंसी खेल में नष्ट कर डालते हैं और उसे मनोविश्राम कहा करते हैं। यह ठीक नहीं है। उदाहरणार्थ हमें भोजन के समय थोड़ा सा दूध भी मिलना चाहिए, परन्तु सिर्फ दूध के भरोसे हमारा काम नहीं चलेगा, हम दुबले हो जायंगे। इसी तरह जिस प्रकार के मनबहलाव से हमारी अधिक प्रीति होगी उसमें हम आनन्द के साथ बहुत अधिक समय नष्ट कर दिया करेंगे। (४) युवावस्था को हम "आनन्द करने में" और "मज़ा उड़ाने में" बुरी तरह से खो देते हैं। हमारा सारा दिन वाहियात कामों के करने में जाता है। थोड़ा यहाँ वहाँ घूमे, थोड़ा सा गपशप लड़ाते रहे, थोड़ा आराम करते रहे और दिन बीत चला परन्तु इसे भी याद रखना चाहिये कि "सुबह होती है, शाम होती है। योंही उम्र तमाम होती है"।

यदि कुछ पढ़ने की इच्छा हुई तो एकाध सड़ियल किताब को निकाल लिया और पढ़ते रहे। परन्तु जब मन थका रहता है अथवा अन्य बातों में लगा रहता है तब पढ़ने से कुछ लाभ नहीं। (५) यदि कोई निकम्मी किताबों के पढ़ने में समय नष्ट करता है तो कोई पढ़ने की उचित रीति न जानने के कारण (अच्छी किताबों को भी पढ़कर) अपना समय खोता है। अनेक विद्यार्थी ऐसे मिलेंगे जो अपनी वर्तमान अवस्था से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाली पुस्तकों को पढ़ा करते हैं। इससे कुछ भी लाभ न होगा।

इसी तरह हम अनेक प्रकार से समय को खो दिया करते हैं। पहले तो वह थोड़ा सा ही मालूम पड़ता है परन्तु जब हम अपने जीवन के समाप्ति शिखर पर चढ़कर देखते हैं तब समय के ऐसे अनेक छोटे छोटे' टुकड़े इधर उधर व्यर्थ बिखरे हुए दिखाई देते हैं। विचार करने की बात है कि जिन क्षणों को छोटा समझ कर हम व्यर्थ खो देते हैं उन्हीं 'छोटे' क्षणों को उपयोग में लाकर कोई मिहनती आदमी एक दो नई भाषाओं को सीख लेता है। इस अवनत भारतवर्ष ही में आज ऐसे कई उद्योगी पुरुष मिल सकते हैं जो नौकरी करते हुए ग्रन्थ सम्पादन का काम कर रहे हैं, अथवा जो अन्य व्यवसाय के साथ साहित्य-सेवा देश-सेवा और परोपकार जैसे महापवित्र कार्यों के लिए भी समय बचा लिया करते हैं। देशमान्य दादा भाई नारोजी, माननीय मदनमोहन मालवीयजी, लाला लाजपतराय, लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक, महामति रानाडे, पूजनीय गोपाल कृष्ण गोखले, श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, कर्मवीर मोहनदास कर्मचन्द गाँधी इत्यादि इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संसार

में जितने प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं उनकी सफलता की कुञ्जी वास्तव में उनके समय के—प्रत्येक क्षण के—सदुपयोग ही में है। उनमें से अधिकांश लोग बिना विशेष स्वाभाविक और जन्म-सिद्ध-गुण के भी, केवल अपने अचल परिश्रम के हर एक पल के उचित उपयोग के—कारण अपना नाम इतिहास में अमर कर गये हैं। ऐसे आदमियों से इतिहास भरा पड़ा है। यदि वे प्रत्येक पल को बहुत छोटा और तुच्छ समझ कर त्याग देते तो अपने समस्त जीवन भर कुछ भी नहीं कर पाते।

उपर्युक्त बातों से यह सिद्ध हो चुका कि हम क्षण क्षण को उपयोग में लाकर आश्चर्यकारी कार्य कर सकते हैं। इससे यह प्रगट होता है कि आज कल के लोग "No time" (फ़ुरसत नहीं है) कहकर केवल अपनी सुस्ती बतलाया करते हैं। यह कथन केवल स्वार्थियों को शोभा दे सकता है। जो आदमी समय की कमी की शिकायत किया करते हैं उनमें से अधिकांश सच पूछो तो समय का मूल्य ही नहीं जानते। समय बचाना चाहो तो अवश्य बचा सकते हो, केवल इच्छा होनी चाहिए। बहुत से मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो एकाध अच्छा काम करने के लिए "बढ़िया मौक़ा" देखते बैठे रहते हैं। यह भी ठीक नहीं है। अच्छे कार्य को प्रारम्भ कर ही देना चाहिए उत्तम अवसर देखते बैठे रहने से केवल समय नष्ट होगा। अवसर और समय तो वही उत्तम है जिसमें उत्तम कार्य प्रारम्भ किया जाय। हाँ एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी भी काम को एकाएकी क्षणिक जोश में आकर नहीं कर डालना चाहिए। इससे कार्य की सिद्धि नहीं होगी। किसी भी काम को धीरे धीरे और थोड़ा थोड़ा ही करो परन्तु उसे नित्य दृढ़ता के साथ करो फिर तुम्हारे काम

की सफलता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह सकता। और काम करने से हमें लाभ भी दो प्रकार का होता है। एक तो हमारा इच्छित कार्य पूरा हो जाता है, दूसरा हममें काम करने की योग्यता बढ़ती जाती है। बस, इसीसे हम समझ सकते हैं कि आलसी मनुष्य से परिश्रमी मनुष्य कैसे और क्यों अधिक काम कर सकता है। इसका उदाहरण लीजिए। आप किसी काम काज में लगे हुए मनुष्य के पास जाइये और उससे एक चिट्ठी लिखने को कहिए। वह तुरन्त ही चिट्ठी लिख देगा परन्तु आप एक आलसी मनुष्य को एक चिट्ठी लिखने के लिए दिन भर का भी अवकाश दीजिए तो भी वह एक चिट्ठी तक नहीं लिख पावेगा। उसे एक चिट्ठी लिखने के लिए दो चार दिन अथवा एक सप्ताह चाहिए।

किसी काम को पूरा करके ही छोड़ना चाहिए—अधूरा बीच में छोड़ देने से कार्य पूरा नहीं होता। इतना ही नहीं किन्तु इससे अधूरा काम करने की बुरी आदत भी पड़ जाती है। एक पत्र सम्पादक ने अपने एक मित्र लेखक से एक दिन कहा कि क्यों भाई! तुम तो छपने के लिए एक भी लेख नहीं देते। रात दिन लिखते तो बहुत रहते हो! झट लेखक ने काग़ज़ों का एक गट्ठा लाकर पटक दिया। उसमें कई विषयों पर लेख थे, परन्तु पूर्ण उनमें से एक भी न था। उन अधूरे लेखों के पढ़ने से इतना अवश्य मालूम होता था कि लेखक सचमुच अपूर्व विद्वान् है। लेकिन किस काम का? इस पन्ने में एक कविता प्रारम्भ की गई है, उस पन्ने में ज्योतिष-सम्बन्धी अपूर्ण लेख है, वहाँ पर एक उन्नतिविषयक लेख प्रायः ख़तम होने को आया है, एक अन्य पृष्ठ में 'कर्तव्य' पर भी लिखा गया है, जिस पर थोड़ा सा ही लिखना बाक़ी है,

सारांश, एक भी लेख पूर्ण नहीं है। ऐसे काम करने से क्या लाभ? इससे तो समय की हत्या मात्र होती है। इससे तो अच्छा यही होता कि किसी भी एक काम को अच्छी तरह से पूरा कर डालते।

अब प्रश्न यह रहा कि किस उपाय से यह अमूल्य समय व्यर्थ न जाने पावे। इसके उत्तर में सिर्फ़ इतना ही कहना पड़ेगा कि जिस आदमी के "हर काम के लिए समय और हर समय के लिए काम" नियत रहेगा उसका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने पावेगा। प्रिय विद्यार्थियो, यह बात कहने सुनने में जितनी सरल है उतनी ही और उससे भी बढ़कर करने में महाकठिन है। बहुतेरे लोगों से इस नियमितता (punctuality) का पाठ पढ़ते नहीं बनता। यह पाठ कठिन है, परन्तु समय का सदुपयोग केवल इसी तत्त्व पर अवलम्बित है। इसलिए इस पाठ को, हज़ार बाधाओं और तकलीफ़ों के होते हुए भी, अवश्य पढ़ना पड़ेगा, करो एक ही काम परन्तु उसे उसके उचित और नियत समय पर करो। जो आदमी नियत समय पर सब काम किया करता है उसके सदाचारी होने की अधिक सम्भावना रहती है। ऐसा आदमी अपनी प्रतिज्ञा कभी नहीं तोड़ता। नियम पर काम करनेवाले को सदा शान्ति सुख मिलता है, इसलिए हर एक समय के लिए कुछ न कुछ उपयोगी कार्य नियत कर रक्खो। जब तुम्हारे चौबीस घन्टे यथाक्रम बँट जायेंगे तब न तो तुम्हें बुरी बातों के सोचने का ही अवसर मिलेगा और न तुम ऐसा काम कर सकोगे जिससे तुमको दुःखित अथवा लज्जित होना पड़े। परन्तु एक बात है, समय को अच्छी तरह से बाँटना पड़ेगा, उसकी व्यवस्था पूर्ण और समुचित रीति से करनी होगी

वेग से घूमने वाला पहिया एक बड़े भारी यन्त्र को चला सकता है परन्तु उस पहिये की एक खूंटी टूटी तो फिर न तो वह स्वयं कुछ काम का रहता, न वह यंत्र ही कुछ काम दे सकता है। दोनों बेकाम हो जाते हैं। ठीक इसी तरह नियत समय पर काम करने वाला मनुष्य यदि एक भी मिनट खो बैठता है तो उसका सारा कार्य-रूपी यन्त्र का क्रम बिगड़ जाता है।

प्राय: लोग कहा करते हैं कि मनुष्य के सुख-दु:ख का कारण उसका मन ही है, और यह है भी सच बात। हमारे मस्तिष्क का स्वाभाविक धर्म है कि कुछ न कुछ काम करते रहना। हम पर केवल इतना ही निर्भर है कि हम अपने मन को अच्छे विचारों की ओर दौड़ावें या बुरे की ओर। जिधर की लगाम ढीली होगी उधर ही यह घोड़ा (मन) दौड़ता है। वह पथरीली और कटीली राह से चलने में नहीं डरता। अपनी शरीर-रक्षा के लिए उसे ठीक रास्ते पर चलना हमारा काम है। प्राय: बचे हुए समय में अनेक मानसिक विकार उत्पन्न हुआ करते हैं इसलिए फालतू समय को भी किसी न किसी तरह उपयोग में लाना चाहिए। ऐसे समम में हम चाहें तो किसी मित्र से मुलाकात कर सकते हैं, कोई मनोरंजक खेल खेल सकते हैं, किसी प्राकृतिक दृश्य का सुख लूट सकते हैं, कोई उपयोगी पुस्तक पढ़ सकते हैं अथवा स्फूर्ति और स्वास्थ्य-जनक शारीरिक कार्य भी कर सकते हैं। प्राय: देखा जाता है कि ऐसे समय में (जब की मन को कुछ भारी काम नहीं करना पड़ता और वह स्वतन्त्र रहता है) हमारे मन में अचानक कुछ भाव पूर्ण और सुखदायक विचार आप ही आप उत्पन्न हो जाते हैं, जो एकान्त में बैठकर इच्छा करने

पर भी नहीं ज्ञात होते, इस लिए हमें ऐसे अवकाश के समय में भी काग़ज़ पेंसिल अवश्य रखना चाहिए, क्योंकि शायद हम इन अमूल्य विचारों को फिर भूल जायें और पश्चात्ताप करें।

समय का सद्व्यय अनेक उपायों से किया जा सकता है। परन्तु इसे ध्यान में रखना चाहिए कि अपने दैनिक कार्य-क्रम का विभाग किये बिना समय का सद्व्यय होना असम्भव सा है। समय का सदुपयोग करने के लिए यह एक अच्छी रीति है कि प्रातःकाल सो कर उठने पर हमें इस बात पर बहुत ध्यान देना चाहिए कि आज हमें दिन भर क्या क्या करना है। फिर सोते समय निष्पक्षभाव से इस बात की भी आलोचना कर लेनी चाहिए कि हमने सब कामों को उचित रीति से और उचित समय पर किया है या नहीं। यदि नहीं किया तो उसका कारण हमारी सुस्ती तो नहीं है। आत्म-निरीक्षण का स्वभाव विद्यार्थी-दशा ही में सफलतापूर्वक डाला जा सकता है। इस स्वभाव में अपने गुण दोषों को ढूँढ़ निकालने और आत्मोन्नति करने की विलक्षण शक्ति है। बहुतेरे लोगों का जीवन आत्म-निरीक्षण के अभाव ही से दुःखदायक हो जाता है। अतएव यदि विद्यार्थियों को अपने वर्तमान और भावी जीवन-संग्राम में सफलता प्राप्त करने की इच्छा हो तो उन्हें अभी से आत्म-निरीक्षण का अभ्यास करके देख लेना चाहिए कि हम अपने समय का प्रति दिन सदुपयोग कर रहे हैं या दुरुपयोग। समय के महत्त्व के विषय में फ्रैंक-लिन साहब का यह वाक्य सदा ध्यान में रखने योग्य है—"Dost thou love life? then do not squander time, for that is the stuff life is made of."

अर्थात् क्या तुम्हें अपनी जान प्यारी है ? यदि है तो समय को नष्ट मत करो क्योंकि तुम्हारा जीवन समय ही से बना हुआ है।

अन्त में थोड़े शब्दों में, मनुष्य के जीवन की सार्थकता के विषय में, यही कहा जा सकता है कि हम ईश्वर और मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्यों को पहचानें, आत्म-निरीक्षण और आत्म-शासन का पाठ सीखें तथा अपने समय का ऐसा सदुपयोग करें जिससे हम अपने कुटुम्ब, समाज और देश के लिए किसी तरह उपयोगी हो सकें। यथार्थ में जीवन उसी मनुष्य का सफल होता है और वही मनुष्य जीवन-संग्राम में सफलता प्राप्त कर सकता है जो इन कामों में अपना तन, मन, धन सब अर्पण कर दे।
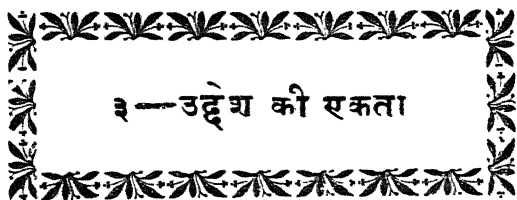
३—उद्देश की एकता

"एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय।
जो गहि सेवै मूल को फूलै फलै अघाय॥
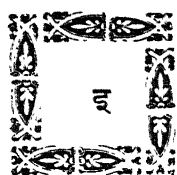
इस लेख माला के गत दो लेखों में आरोग्यता और समय के सदुपयोग पर लिखा जा चुका है और यह बतलाया गया है कि ये बातें संसार-यात्रा के लिये बहुत आवश्यक हैं। आज हमें एक तीसरे महत्त्वपूर्ण विषय—उद्देश की एकता पर लिखना है।

वर्तमान समय में किसी काम में यश प्राप्त कर लेना कोई सहज काम नहीं है। आज कल हमारे चारों ओर ऐसी बहुत सी नई नई बातें उपस्थित हो गई हैं जो हमारा ध्यान अपनी ओर आप ही आप खींचा करती हैं हमारा मन इन सब बातों को जानने, सुनने और देखने के लिए आप ललचाता रहता है। किसी मनुष्य को व्यापार, कलाकुशलता या उद्योग-धन्धे में सफल होते देख हम भी व्यापारी बनाना चाहते हैं जब हम किसी मनुष्य की शारीरिक शक्ति के अद्भुत प्रयोगों को देखते हैं तब हम प्रोफ़ेसर राममूर्ति का अनुकरण करना चाहते हैं। जब हम किसी मनुष्य की बुद्धि का प्रशंसनीय प्रभाव देखते हैं तब हमारा मन आप ही आप उसकी नक़ल करने की इच्छा करने लगता है। किसी बड़े वकील बारिस्टर, डाक्टर, इञ्जीनियर

आदि को देख कर उसी के समान जीवन व्यतीत करने की इच्छा सैकड़ों विद्यार्थियों के मन में आप ही आप उत्पन्न हुआ करती है। किसी वक्ता और उपदेशक की वक्तृता सुन कर, किसी कवि की कविता पढ़कर और किसी लेखक का ग्रन्थ देख कर यदि हमारे मन में, अनुक्रम से वक्ता, कवि और ग्रन्थकार बनने की इच्छा उत्पन्न हो, तो आश्चर्य की बात नहीं है। सारांश यह है कि जिधर हम देखते हैं उधर ही हमारा मन आकर्षित हो जाता है और अन्य लोगों की सफलता को देख कर जी ललचाने लगता है। यह वर्णन काल्पनिक नहीं। प्राय: सब विद्यार्थी, और बड़ी उमर के कुछ मनुष्य भी, इस मानसिक चंचलता के विषय में, स्वयं अपने अनुभव से, गवाही दे सकते हैं। एक बार विद्यार्थी अपने मन में कहता है कि मैं किसी कालेज में अध्यापक का काम करके अपने देश के युवकों को उपयोगी होने की शिक्षा दूंगा। दूसरी बार, वह कहता है कि मैं अपने देश की आर्थिक दशा में सुधार करके सब लोगों को सम्पत्तिमान् और सुखी बनाने का यत्न करूँगा। परन्तु जो मनुष्य इस ज़माने में रह कर ध्यानपूर्वक अपनी उन्नति का उपाय सोचेगा उसे यह बात अवश्य ही जँच जायगी कि अनेक उद्देशों का एक साथ पूरा होना असम्भव है।

आजकल जीवन-कलह की तीव्रता बहुत बढ़ गई है। यदि हम प्रत्येक चमकीली और भड़कीली वस्तु के पीछे अपने मनको भटकाने देंगे तो अन्त में हानि उठानी होगी। यदि हम अपने एक मन को अनेक कामों में एक साथ ही बाँट देंगे तो "न इधर के हुए न उधर के" वाली कहावत चरितार्थ हुए बिना न रहेगी। यह ज़माना ख़ास या विशेष काम करने वालों का है, साधारण जनों का नहीं। जो मनुष्य किसी

एक काम को हाथ में लेकर एकाग्र चित्तसे उसी को पूरा करेगा वही इस जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति का अधिकारी हो सकता है। विचार करने की बात है कि जिस मनुष्य का तन, मन, धन समय समय पर उत्पन्न होने वाली अनेक इच्छाओं के पूर्ण करने में लगा हुआ है उस मनुष्य की कार्य-सिद्धि में, तथा एक दूसरे मनुष्य की एकमात्र निश्चित इच्छा के पूर्ण होने में, कितना अंतर है! मतलब यह है कि यदि हम सफलतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो हम को इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये कि इस संसार में हमारा विशेष उद्देश क्या है। जब यह उद्देश एक बार निश्चित हो जाय तब उसी पर सदा आरूढ़ रहना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश की वर्तमान दशा के अनुसार ऐसे बहुत से अच्छे अच्छे काम हैं जो, उद्देश के विषय में सावधान रहने से, सरलता से किये जा सकते हैं। कोई शिक्षा के द्वारा अपने देश-भाइयों को शिक्षित कर सकता है, कोई सामाजिक विकास के सिद्धान्तों के अनुसार अपने समाज की उन्नति का यत्न कर सकता है, कोई विज्ञान की सहायता से कृषि, व्यापार, कला-कौशल आदि में बहुत कुछ सुधार कर सकता है, कोई राजनीति सीखकर अपने देश की भलाई कर सकता है और कोई अपने धर्म के सनातन-तत्त्वों के आधार पर, सुख और शान्ति से, जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखा सकता है। यह कहना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव सा जान पड़ता है कि इन सब उपयोगी कामों में से अमुक एक दूसरे से अधिक अच्छा है। परन्तु प्रायः लोग ऐसे कामों में लग जाते हैं जो उनकी स्वाभाविक अवस्था की प्रतिकूलता के कारण उनसे हो ही नहीं सकते। ऐसे कामों

को करने में परिश्रम वृथा जाता है। उसी काम को हाथ में लेना चहिए जो अपनी स्वभाविक अवस्था के अनुकूल हो— जिसके करने की कुछ स्वाभाविक योग्यता हम में हो। आसमान से तारे उतारने की कोशिश में रहना व्यर्थ है। कार्य के आरम्भ ही में जब अपने उद्देश को निश्चित करने का समय हो तभी खूब सोच विचार कर लेना चाहिए, और जब कभी एक काम में लग चुके तब उसे पूरा ही करके छोड़ना चाहिए। जब तक कार्य या उद्देश के सफल होने की कुछ भी सन्धि और सम्भावना है, और जब तक वह कार्य अनुपयोगी प्रतीत नहीं होता तबतक, उसे विफलमनोरथ होने पर भी, बार बार करते ही रहना चाहिए। इस बात का स्मरण सदा बना रहे कि करना धरना तो कुछ भी नहीं, परन्तु सभी कामों में हाथ लगाने से, कुछ भी लाभ नहीं होगा।

प्राय: अधिकांश लोग अपने मन की चञ्चलता के कारण किसी एक कार्य में या उद्देश में स्थिर नहीं हो सकते। ऐसे लोगों को पछताने के सिवा और कुछ लाभ नहीं हो सकता। इस विषय में एक छोटी सी कहानी है जिससे हमारे विद्यार्थी कुछ लाभदायक शिक्षा पा सकते हैं। एक समय की बात है। "दो आदमी उनमें से एक हिन्दू था दूसरा मुसलमान) आपस में झगड़ने लगे। मुसलमान राम को झूठा बतलाता था और हिन्दू रहीम को। उनका निबटारा होना मुश्किल था। इस लिए उन्होंने एक सभ्य मनुष्य को मध्यस्थ नियत किया। मध्यस्थ ने यह कहकर झगड़ा टालना चाहा कि हिन्दू के लिए राम और मुसलमान के लिए रहीम सच है। परन्तु वे दोनों आदमी हठ करके एक दूसरे को झूंठा कहने लगे। तब इस मध्यस्थ ने कहा—'तुम दोनों एक पर्वत के ऊँचे शिखर

से अपने अपने इष्टदेव का नाम लेकर नीचे कूद पड़ो, जो गिर कर मर जायगा वही झूँठा होगा।' हिन्दू "राम" कह कर कूद पड़ा, एक पेड़ को पकड़ कर लटक गया। मुसलमान भी "रहीम" कहता हुआ पर्वत की चोटी से कूद पड़ा। उसने भी एक पेड़ से लटक कर अपने प्राण बचा लिये। कहते हैं कि अचानक वहाँ आकाश की ओर से एक दिव्य विमान नीचे उतरा और उन दोनों को स्वर्ग की ओर ले गया। तमाशा देखनेवालों में से एक का जी ललचाया। वह सोचने लगा कि अकेले "राम" या अकेले "रहीम" ने ही जब इन लोगों को ऐसे ऊँचे पद पर पहुंचा दिया तब मैं राम और रहीम दोनों कह कर इनसे भी अधिक योग्यता पा जाऊँगा। बस, यह सोचकर वह पर्वत के शिखर पर चढ़ गया और नीचे कूद पड़ा। वह अस्थिर स्वभाव का आदमी था। नीचे गिरते समय शून्य वायुमण्डल में वह सोचने लगा कि किस झाड़ की शाखा को पकड़ना चाहिए और किस नाम—राम या रहीम—का उच्चारण करना चाहिए। कभी वह राम को पुकारता, कभी रहीम को कभी वह एक वृक्ष का सहारा लेता, कभी दूसरे का। इस प्रकार एक उद्देश से दूसरे की ओर भटकता हुआ वह धड़ाम से नीचे आ गिरा। उसकी हड्डियाँ चूर चूर हो गईं।" यही दशा उन लोगों की होती है जो किसी एक उद्देश पर स्थिर नहीं रहते।

ज्ञान के विषयों की ऐसी अद्भुत वृद्धि हो रही है कि अब इस बात की कोई सभावना नहीं दीख पड़ती कि एक आदमी सभी विषयों का पूर्ण ज्ञान रख सके। मनुष्य का जीवन-काल बहुत ही अल्प है संसार में सर्वाङ्ग सत्यपूर्ण ज्ञान की दिनों दिन उन्नति हो रही है। यही देखकर किसी कवि ने कहा है—

''शास्त्र ह्यनन्तं बाहुलाश्च विद्याः अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च ।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथाः क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥''

जब किसी एक ही विषय का पूर्ण ज्ञाता होना और एक ही विषय में दक्षता प्राप्त करना कठिन है तब अनेक विषयों पर ध्यान देकर अपने तन, मन और धन को नष्ट कर देने से क्या लाभ होगा? विद्वानों के मत के अनुसार वर्तमान समय का झुकाव विशेषता की ओर अधिकाधिक बढ़ता जाता है। The present is an age of specialization. इसमें सन्देह नहीं कि हम आजकल की सब बातों को पूरी तरह से जान नहीं सकते। इसलिए हमको अपनी स्वाभाविक रुचि के अनुसार किसी एक ही विषय की ओर दृढ़ सङ्कल्प से झुक पड़ना चाहिए। हाँ, ऐसे भी एकाध दुर्लभ मनुष्य संसार में रहते हैं जो एक ही शरीर और एक ही मस्तिष्क से बहुजन-साध्य काम कर सकते हैं। वे चाहें तो एक दम चट्टानों से फूल की सेज पर अथवा राजनीति से हँसी दिल्लगी में जा सकते हैं। वे चाहें तो इतिहासकार हो सकते हैं धार्मिक ग्रन्थ लिख सकते हैं, राजनीति में निपुण हो सकते हैं और सृष्टि तथा जीवन के तत्त्वों का अनुसन्धान भी कर सकते हैं। सारांश, वे जो चाहें कर सकते हैं। उनके लिए कुछ भी असाध्य नहीं। उनमें विलक्षण शक्ति होती है। वही यथार्थ में प्रतिभा सम्पन्न कहाते हैं। परन्तु सोचना चाहिए कि संसार में ऐसे कितने प्रतिभाशाली पुरुष मिल सकते हैं? और, यह भी सोचना चाहिए कि क्या वे उद्देश-की एकता के बिना और परिश्रम किये बिना ही प्रतिभाशाली हो गये? "प्रतिभा" परिश्रम करने की अपरिमित शक्ति ही को कहते हैं। प्रतिभाशाली पुरुषों के कामों को देखकर यह नहीं

समझना चाहिए कि हम भी बिना प्रयत्न के आप ही आप उनके समान सब कुछ एक दम कर सकेंगे। किसी ने सच कहा है -"आजकल बुद्धिमानी, अज्ञात अथवा अर्धज्ञात बातों के छोड़ देने में ही है. न कि उनके पीछे समय खोने में।"

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारा उद्देश एक ही हो और उसी की सफलता के लिए हम अपनी सब शक्तियों को लगा दें। अब यहां पर यह जानना आवश्यक है कि हमारे जीवन का वह विशिष्ट उद्देश कैसा और कौन सा हो। इस विषय की विस्तृत चर्चा किसी दूसरे लेख में की जायगी। यहाँ सिर्फ़ इतना ही लिख देना उचित जान पड़ता है कि हम बचपन से अपने अन्त:करण की स्वाभाविक शक्ति और झुकाव को देखें और इस बात का निश्चय करें कि उनकी प्रवृत्ति किस ओर अधिक है। इस स्वाभाविक शक्ति और झुकाव ही का विकास, विद्यार्थी-दशा में, शिक्षा की सहायता से किया जाना चाहिए और यही हमारे जीवन का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। हमें उचित है कि हम नित्य इसी मार्ग से चलना सीखें, इसी मार्ग को कण्टकहीन बनावें और इसी का अनुसन्धान किया करें। इस प्राकृतिक मार्ग पर अवलम्बित रहने से-अन्त:करण की किसी एक विशेष शक्ति पूर्णावस्था में पहुंचाने का प्रयत्न करते रहने से-हमारे जीवन की सफलता अवश्य हो जायगी।

किसी मनुष्य में कैसी भी तीव्र बुद्धि क्यों न हो, यदि वह उसे सब दिशाओं की ओर गति देगा तो उसकी गति अवश्य ही मन्द हो जायगी। कोइ कोई मनुष्य एक समय में एक ही काम करके भी सफल मनोरथ नहीं होते। इसका दोष वे अपने भाग्य के मत्थे मढ़ दिया करते हैं। परन्तु यह, उनकी भूल है। सच बात तो यह है कि या तो वे उचित

रीति से कार्य का आरम्भ नहीं करते या वे अपनी इष्ट सिद्धि में एक बार थोड़े समय तक भगीरथ-प्रयत्न करके फिर शेष कार्य को आलस्य और अनुत्साह से किया करते हैं। यदि किसी उद्देश को पूर्ण करना है तो पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि हममें उसके सम्पादन की योग्यता है या नहीं। यदि नहीं है तो सबसे पहले योग्यता प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। यह काम विद्यार्थी-अवस्था में सरलता से हो सकता है। यहाँ पर आधुनिक शिक्षा-पद्धति के विषय में भी एक बात लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। यह पद्धति हमें यह सिखलाती है कि "तुम किसी भी विषय से अनभिज्ञ न रहो।", परन्तु यह सिद्धान्त सर्वथा दोषपूर्ण है। यदि हम किसी एक विषय में पूर्णता प्राप्त करना है तो अन्य विषयों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। अपने इच्छित विषय के ही अनुसन्धान में मन को एकाग्र करके अपनी सब आन्तरिक शक्तियों को उपयोग में लाना चाहिए। नहीं तो हम किसी भी विषय में पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकेंगे। हाँ, हमें बहुत सी बातों का साधारण ज्ञान होना आवश्यक है, और यह बहुत सुगमता से हो भी जाता है। इसके लिए विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। तात्पर्य यह है कि उद्देश्य की एकता पर ही सफलता अवलम्बित है। प्रकृति के कार्यों से भी हमें इसी बात की शिक्षा मिलती है। देखो, जब भाप शून्य आकाश में इधर उधर बिखरी रहती है तब वह किसी काम की नहीं रहती, तब उसके समान अनुपयोगी वस्तु कुछ भी नहीं हो सकती है। परन्तु वही भाप जब एकत्रित की जाती है और किसी यन्त्र में भर दी जाती है तब वह बड़ी बड़ी चट्टानों को भी फोड़ सकती है।

एक ही विषय की ओर ध्यान दो, एक ही विषय को पूर्णता में पहुंचाओ। इसका यह मतलब नहीं है कि "कुत्ता और बिल्ली" का भी भेद न पहचान सको। उद्देश की एकता हमें यह कभी नहीं सिखलाती कि तुम नैपोलियन बनकर दस और पाँच को जोड़ तक न सको। जो लोग यह समझते हैं कि उद्देश की एकता हमें एकपक्षीय होना सिखाती है वे भारी भूल करते हैं। अपने निश्चित उद्देश की सफलता के लिए आवश्यक बातों का ज्ञान प्राप्त करना कभी हानिकारक नहीं हो सकता। परन्तु अपने केन्द्रभाव अर्थात् उद्देश की एकता को अनेकता का रूप देने का यत्न कभी नहीं करना चाहिये।

इसमें कुछ भी मतभेद नहीं हो सकता कि हमारा उद्देश बहुत ऊँचे दर्जे का होना चाहिए। एक कहावत है, जिसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य आकाश को लक्ष्य करके निशाना लगावेगा वह उस आदमी से अधिक ऊँचा निशाना लगा सकेगा जो केवल किसी वृक्ष पर लक्ष्य करता हो। इस बात पर हमेशा ध्यान बना रहे कि एक तीर से दो निशाने कभी जम नहीं सकते। इस संसार की जीवन-यात्रा को जो सफल करना चाहता है उसे "एको देवः केशवो वा शिवो वा" इस मन्त्र का व्यावहारिक जप नित्य करना पड़ेगा। जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति के लिए कवि ने यही उपाय कहा है—

"One thing at a time and that done well.
Is the way of happiness as many can tell."

सच है, जिसने उद्देश की एकता पर उचित ध्यान दिया है वही इस संसार में सुख और शान्ति का अनुभव प्राप्त कर सकत है।

४-स्वावलम्बन

"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं। करि विचार देखहु मन माहीं॥"

—गोस्वामी तुलसीदास।

ह पहले ही लिखा जा चुका है कि मनुष्य का जीवन यथार्थ में एक बहुत बड़ा संग्राम है। पिछले तीन लेखों में, इस संग्राम में सफलता प्राप्त करने के लिये कुछ उपायों का वर्णन किया गया है। अब इस लेख में चौथे उपाय का अर्थात् स्वावलम्बन का वर्णन किया जायगा।

स्वावलम्बन ही को आत्म-निर्भरता, स्वातन्त्र्य-प्रियता, स्वयं-सहाय और आत्मावलम्बन भी कहते हैं। इसका अर्थ है—अपने ही आधार पर संसार यात्रा तय करना, अथवा अपने पैरों पर आप खड़ा होना। सफलता के जितने अङ्ग हैं उनमें इसका दर्जा बहुत ऊंचा है। यह एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य, अनेक विघ्नबाधाओं के रहते हुए भी, अपने उद्देश को पूरा करने का यत्न कर सकता है। आलसियों और परोपजीवियों के लिए तो यह विष से भी अधिक कडुआ है। जिसे संसार में रहना है, जिसे संसार में अपना अस्तित्व स्थिर

रखना है और जिसे सुख का कुछ अनुभव करना है, उसके लिए स्वावलम्बन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रिय विषय है। मनुष्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्वावलम्बन के बिना कोई समाज, देश या राष्ट्र पराधीनता से कभी मुक्त नहीं हो सकता।

अङ्गरेज़ी में एक कहावत है—God helps those who help themselves अर्थात् परमेश्वर उन्हीं लोगों की सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता किया करते हैं। इस विषय में हरक्यूलीज़ और गाड़ीवान का क़िस्सा प्रायः सब विद्यार्थी जानते होंगे। उक्त कहावत या किस्से में स्वावलम्बन का जो तत्त्व है, उस की सत्यता महाराणा प्रतापसिंह के जीवन में अच्छी तरह प्रकट होती है। महाराणा के सहायक कौन थे? वही मुट्ठी भर कोल भील! और उनका जानी दुशमन कौन था? वही मुग़लसम्राट अकबर जो उस समय सारे हिन्दुस्तान का कर्ता, धर्ता और विधाता था! फिर महाराणा ने इतने प्रचण्ड बलों से किसके सहारे शत्रुता की थी? क्या उन्हें किसी की सहायता थी? नहीं, उन्होंने केवल अपनी स्वावलम्बन-शक्ति का भरोसा किया, उन्होंने केवल अपनी शारीरिक मानसिक और नैतिक आत्मशक्ति ही के भरोसे स्वाधीनता की प्राप्ति का प्रयत्न किया। अन्त में वे सफल-मनोरथ भी हुए। तात्पर्य यह है कि जब तक मनुष्य स्वयं अपनी सहायता आप नहीं करता तब तक कोई भी उसकी सहायता नहीं कर सकता। स्वावलम्बन ही मनुष्य की उन्नति का मुख्य उपाय है। प्राणि-शास्त्र का सिद्धान्त है कि प्रत्येक जीव को अपनी उन्नति अथवा सुख की प्राप्ति के लिये स्वयं यत्न करना पड़ता है। इसी को जीवनार्थकलह कहते हैं। इस प्राकृतिक नियम से हमारे लिए यही शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति

के लिए स्वयं यत्न करे। इस प्राकृतिक नियम को परमेश्वर की इच्छा भी कह सकते हैं। ऐसी अवस्था में परमेश्वर अपनी इच्छा के विरुद्ध, अथवा प्राकृतिक नियम के विरुद्ध, उन लोगों की सहायता कैसे कर सकता है जो अपनी सहायता स्वयं आप नहीं कर सकते! यदि वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि अकबर सरीखे बादशाह के साथ सफलतापूर्वक विरोध करना महाराणा प्रतापसिंह के लिए एक असम्भव बात थी। परन्तु यह असम्भव कार्य भी महाराणा की स्वावलम्बिनी वृत्ति के द्वारा सिद्ध हो गया, अर्थात् जब उन्होंने स्वयं यत्न किया तभी प्राकृत नियम के अनुसार अथवा ईश्वर की कृपा से उन्हें सफलता प्राप्त हुई। हम लोग बात बात में कहा करते हैं कि परमेश्वर हमारा सहायक है, परन्तु इसके अर्थ की ओर बहुत कम लोग ध्यान दिया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि परमेश्वर हमारा सहायक है, परन्तु कब? जब हम स्वयं अपनी सहायता करें, जब हम स्वयं अपनी उन्नति के लिए यत्न करें—तब। अन्यथा नहीं। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने अपने "दासबोध' के चौथे दर्शक के आठवें समास में, सख्य भक्ति का निरूपण करते समय कहा है—"यह सभी कहते हैं कि ईश्वर को छोड़ कर हमारे लिए कोई नहीं है, परन्तु उनकी निष्ठा कुछ वैसी ही नहीं होती!" तात्पर्य यही है कि यदि ईश्वर को अपना सहायक बनाना है, यदि ईश्वर के साथ मित्रता या सख्यभक्ति करनी है तो हम लोगों को उसकी इच्छा के अनुसार—उसके प्राकृतिक नियमों के अनुसार—बर्ताव करना चाहिये, अर्थात् हम लोगों को अपनी सहायता स्वयं आपही करनी चाहिए। हम लोगों को स्वावलम्बन के विषय में अपनी पूर्ण निष्ठा दिखानी चाहिए।

इतिहास पढ़नेवाले जानते हैं कि जब कोई जाति स्वावलम्बन को शक्ति खो देती है तब वह अपने अस्तित्व का नाश करने का मार्ग भी बना लेती है । अधिक दूर जाने की कोई आवश्यकता नहीं। हम देख रहे हैं कि हिन्दू राष्ट्र के निर्माण होने में हज़ारों बाधायें हैं । क्यों ? सिर्फ़ इसीलिए कि अधिकांश हिन्दुओं में प्रति सैकड़ा प्रायः निन्यानवे मनुष्यों में इस शक्ति का सर्वथा अभाव है ! स्मरण रहे कि अस्तित्व का क़ायम रखना केवल इस शक्ति के द्वारा ही सम्भव है । श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा ही है कि पराधीनता के समान दुःखदायक वस्तु कुछ भी नहीं है। यहाँ तक कि पराधीन आदमी को स्वप्न में भी सुख-प्राप्ति नहीं हो सकती । बात सच है । आजकल भी "स्वाधीनता" का नाम सुनते ही लोगों के मुँह में पानी आ जाता है। परन्तु स्वाधीनता जितनी मीठी वस्तु है उसके प्राप्त करने का साधन भी उतना ही कठिन है। क्या जो मनुष्य अपने पैरों पर आप खड़ा हो नहीं सकता वह स्वाधीन रहने का अधिकारी कभी हो सकता है ? कभी नहीं।

अब यह जानना चाहिए कि स्वावलम्बन-शक्ति का साधन क्या है ? यह बात सब लोगों को मालूम है कि जो वस्तु जितने अधिक महत्त्व और अधिक मूल्य की होती है उसकी प्राप्ति भी बहुत कठिनाई के साथ होती है । यही हाल प्रस्तुत विषय का भी है। स्वावलम्बन सिखाने का यदि कोई उचित मार्ग है तो वह आत्मविश्वास ही है । स्वावलम्बन में आत्म-विश्वास, दृढ़ निश्चय और सदा प्रयत्न करते रहने की इच्छा सम्मिलित है । आत्म-विश्वास के बिना-अपनी कार्यकारिणी शक्ति पर दृढ़ विश्वास रख कर काम किये बिना-हम

स्वावलम्बी कभी नहीं हो सकते। जो मनुष्य स्वयं अपनी सहायता करना चाहता है, जो मनुष्य स्वयं अपने ही ऊपर अवलम्बित रहना चाहता है, उसको सबसे पहले आंतरिक शक्ति पर पूरा विश्वास होना चाहिए। जिस मनुष्य को स्वयं अपने आत्मिक बल पर विश्वास नहीं है वह अपने अव-लम्ब से कोई कार्य कैसे कर सकता है? परमेश्वर की कृपा से मनुष्य में एक ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जिसका ठीक ठीक उपयोग होने से मनुष्य के लिए इस संसार में कोई पदार्थ असम्भव नहीं हो सकता। नैपोलियन जैसे प्रयत्नशील मनुष्यों की भाषा में "असम्भव" शब्द का उपयोग कभी नहीं किया जाता। आत्म-विश्वास के उचित उपयोग ही से मनुष्य "नर" से "नारायण" हो जाता है।

स्मरण रहे कि मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का विकास आत्म-विश्वास ही से हुआ करता है। यदि मनुष्य अपनी आन्तरिक शक्तियों पर विश्वास न करे, यदि वह स्वयं यत्न न करे और यदि वह अपनी उन्नति के लिए दूसरों के प्रयत्न पर अवलम्बित रहे तो उसका आत्म-विश्वास नष्ट हो जायगा। यथार्थ में उसका मनुष्यत्व ही जाता रहेगा। जिस समाज में या जिस देश में ऐसे लोगों की संख्या अधिक होती है, जो अपनी उन्नति और सुख के लिए दूसरों पर अवलम्बित रहते हैं, उस समाज या उस देश की सदा अधोगति हुआ करती है। वह सदा पराधीन ही बना रहता है। इस प्रकार पराधीन होते होते मनुष्य ऐसी निकृष्ट अवस्था को पहुँच जाता है कि वह छोटे छोटे कामों में भी औरों के मुख की ओर ताकने लगता है। परन्तु जिस देश में स्वावलम्बी पुरुषों की संख्या अधिक होती है, जिस देश के निवासी अपनी आन्तरिक

शक्तियों पर पूरा पूरा विश्वास करते हैं, वह देश उन्नति और सुख के शिखर पर पहुंच सकता है। सर्वसाधारण लोग ऐसे ही प्रयत्नशील, स्वावलम्बी और आत्म विश्वास करनेवाले महात्माओं का अनुकरण करके आत्मोद्धार के काम में लग जाते हैं। आत्म विश्वास और स्वावलंबन का अभ्यास विद्यार्थी-अवस्था ही से होना चाहिए। इसका कारण यह है कि ये दोनों गुण परस्परावलम्बी हैं। दोनों में अन्योन्य सम्बन्ध है। जबतक मनुष्य का आत्म-विश्वास जागृत रहता है तभी तक वह स्वावलम्बी हो सकता है। आत्मविश्वास से मनुष्य स्वयं अपनी सहायता करने के लिए समर्थ हो जाता है। इस प्रकार स्वयं-सहाय करते करते उसका आत्म-विश्वास भी दृढ़ होता चला जाता है। इन दोनों में न्यूनाधिकता की तुलना करनी निरर्थक है। अतएव, छुटपन ही से विद्यार्थी-अवस्था ही में इन दोनों गुणों का अभ्यास एक साथ होना चाहिए।

इस विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जब किसी को कहीं से मुफ़्त का टुकड़ा मिल जाने की आशा और विश्वास रहता है तब वह मनुष्य हाथ पैर हिलाने और उद्योगधंधा करने की कोई आवश्यकता नहीं समझता। इस बात पर हमारे यहाँ उचित ध्यान नहीं दिया जाता। देखिए, सैकड़ों 'साधू-बैरागी' कहलाने वाले मस्त होकर मज़ा उड़ा रहे हैं और आजकल के नामधारी दानवी उन्हें जी खोलकर धन लुटा रहे हैं और जो यथार्थ में भिक्षा और दान के पात्र हैं उनको कोई पूँछता तक नहीं। ये लोग धन के अपव्यय करने के दोषी तो हैं ही, परन्तु इन पर एक और भी ज़िम्मेदारी है। ये लोग दूसरों को परावलम्बी,

आलसी और समाज-कंटक बनने में सहायता देते हैं। कोई कोई नवयुवक यह स्वप्न देखा करते हैं कि हमें किसी रिश्तेदार की अथवा पैतृक सम्पत्ति थोड़े दिनों में मिलने वाली है। ऐसे लोग मनमोदक से ही भूक शान्त करने में सब कुछ नष्ट कर दिया करते हैं। इनको इस बात का भरोसा रहता ही है कि हमें बापदादों से "टेकने के लिए लकड़ी" तो मिलने ही वाली है, हम क्यों व्यर्थ मिहनत करें, परन्तु स्मरण रहे कि जो "टेक" (सहारा) पकड़कर चलना सीखाता है वह बिना उसके चल ही नहीं सकता। एक अंगरेज़ ग्रन्थकार कहता है कि "नवयुवकों को आर्थिक सहायता (आवश्यकता से अधिक) देना बहुधा उनको लँगड़ा और निरुद्योगी बनाने का एक बहुत ही सरल उपाय है।" परन्तु हमारे यहां के इने गिने धनवान अपने लड़कों के पीछे हर वक्त पांच नौकर रक्खे बिना अपनी बेइज़्ज़ती समझते हैं। ऐसे ही पिताओं से "बाबा की जायदाद से दादा के पिंडा करा देने वाले' सुपुत्र पैदा हुआ करते हैं।

पराधीनता में कुछ सुख नहीं है, क्योंकि जो लोग सदा पराधीन रहते हैं उनका आत्मविश्वास (और फलतः स्वावलम्बन) नष्ट हो जाता है। इस बात का एक उदाहरण लीजिए। जलाशयों में झींगा नामक एक प्रकार की मछली होती है। उसे पानी से उठाकर बाहर रख दो और तमाशा देखो। न तो उसमें इतनी बुद्धि देख पड़ती है कि वह कूद कर पानी में चली जाय और न वह इस काम के लिए कुछ प्रयत्न ही करती है। हाथ भर की दूरी पर रहकर भी वह पानी में कूद जाने का कुछ भी प्रयत्न नहीं करना चाहती। वह यही चाहती है कि पानी की एक आध लहर आकर मुझे उठा ले

जाय ! क्या हमको इस संसार में ऐसे ही हज़ारों मनुष्य रूप भींगे दिखाई नहीं देते हैं ? जब ये मनुष्याकृति भींगे कार्यक्षेत्र में अकेले छोड़ दिये जाते हैं तब वे स्वयं कुछ मिहनत न करके यही चाहते हैं कि अनुकूल दैव (भाग्य) रूपी एकआध लहर आकर हमें संसार-सागर से पार करा दे ! परन्तु ऐसा होना असम्भव है । दूसरों के भरोसे कितने दिन तक काम चलेगा ?

ईश्वर ने मनुष्य को जो शक्तियाँ दी हैं वे इसलिए नहीं कि हम दूसरों का मुँह ताका करें । मनुष्य को स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनने ही के लिए ईश्वर ने उसे शक्तियाँ दी हैं । जब हम किसी मनुष्य से यह बात सुनते हैं कि अमुक कार्य में अनेक संकट और बाधायें हैं इसलिए यह काम हमसे हो नहीं सकता, तब सचमुच आश्चर्य और खेद मालूम होना चाहिये । ये लोग बिना गिरे ही गिर पड़ने के भय से सदा दुःखी बने रहते हैं । जब ये सचमुच गिर पड़ेंगे तब न मालूम इनकी क्या दशा होगी । सच पूछो तो विघ्नबाधाओं, सङ्कटों और कठिनाइयों में ही मानवी-जीवन की योग्यता के विकाश का मूलतत्त्व छिपा रहता है । अँगरेज़ों में स्वाधीनता, दृढ़निश्चय और प्रयत्न करने की शक्ति का विकास लगातार अनेक शतकों तक सङ्कटों से टक्कर मारने ही के कारण, इतना बढ़ा चढ़ा पाया जाता है । उन लोगों ने अपनी उन्नति के लिए स्वयं यत्न किया है । बड़े बड़े सङ्कटों से घिरे रहने पर भी उन लोगों ने स्वावलम्बन द्वारा आत्मोन्नति करने का अपना उद्देश कभी नहीं छोड़ा । यहाँ तक कि स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन लोगों ने प्रज्वलित अग्निकुण्ड में जल कर भस्म हो जाना स्वीकार कर लिया. परन्तु स्वावलम्बन के मार्ग से वे कभी च्युत नहीं हुए । तात्पर्य यह कि सङ्कटों से कभी डरना नहीं चाहिए, उनसे हमेशा

लड़ते रहना ही उचित है। जो मनुष्य दुःख और सङ्कट की गोद में पाला जाता है वह दुःख और सङ्कट को, बचपन के मित्र समझ कर, शान्त हृदय से, आलिङ्गन कर सकता है, परन्तु जो सदा आलस्य और पराधीनता रूपी सुख में रहता है वह सङ्कट का नाम सुनते ही काँपने लगता है। इसीलिए विद्वान् और प्रयत्नशील पुरुष सङ्कटों को ईश्वर की कृपा समझते हैं।

खेद की बात है कि इस ज़माने का प्रवाह भी कुछ अंश में हमें परावलम्बी होना सिखा रहा है। पानी में तैरना, वायुपूर्ण थैली या तूम्बे के सहारे, सिखाया जाता है। हमारे विद्यार्थी "मदर सीगल" की पाचन वाटिका के सेवन किये बिना खाया हुआ अन्न पचा नहीं सकते! यदि किसी परीक्षा में पास होना हो तो बिना 'कुञ्जी' के कुछ काम नहीं होता! सन्ध्या समय वायुसेवन के लिए कहीं बाहर जाना हो तो दो घोड़ों की गाड़ी—नहीं, नहीं, अब तो मोटर—की आवश्यकता होती है! धनप्राप्ति के लिये गुलामी के सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं! यश और अधिकारप्राप्ति के लिए "हाँ जी" को छोड़ और कोई मार्ग ही नहीं है! ऐसी अवस्था में विद्यार्थियों को उचित है कि वे अपने स्वतन्त्र और शुद्ध विचारों के अनुसार स्वयं काम करने की आदत डालें। यदि वे अभी से पराधीनता के वश हो जायँगे तो भविष्य में स्वावलम्बन की आशा करना व्यर्थ है।

हमारे समाज में ऐसी बहुत सी कुरीतियाँ प्रचलित हो रही हैं जो बिना स्वावलम्ब के सुधर ही नहीं सकतीं। वर्तमान समय में देश की दशा के अनुसार ऐसी अनेक आवश्यकतायें हैं जिनके लिए स्वावलम्बी पुरुषों ही की बहुत ज़रूरत

है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे समाज की कुरीतियों को सुधारना और देश की आवश्यकताओं को पूरा करना एक कठिन समस्या है, परन्तु ऐसे ही समय स्वावलम्बी मनुष्यों की परीक्षा हुआ करती है। ऐसे ही समय मनुष्य को अपने पूरे आत्मबल से काम लेना पड़ता है। आज कल जो विद्यार्थी हैं उन्हें, थोड़े ही दिनों में इस कठिन समस्या को पूरा करने का मौक़ा मिलेगा। यही उनके भावी जीवन का घनघोर संग्राम है। इस संग्राम में वही सफल होंगे जो आत्मविश्वास के आधार पर स्वावलम्बन का कुछ विकास कर सकेंगे। ऊपर कहा जा चुका है कि आत्मविश्वास ही स्वावलम्बन की कुञ्जी है। जो मनुष्य स्वयं अपनी शक्तियों पर पूरा विश्वास रक्खेगा, वही स्वावलम्बी होकर अपने भाग्य का विधाता बन जायगा और अपने देश तथा समाज की कुछ उपयोगी सेवा भी कर सकेगा। उल्टा, जो अपनी शक्तियों पर विश्वास नहीं रखता और जिसे परावलम्ब ही प्रिय है वह दासत्व को शृङ्खला में बँधा हुआ मृतप्राय बना रहेगा। पानी में बुलबुले की तरह उसका पैदा होना न होना बराबर है।

५—द्रव्य का उपयोग

आजकल प्रायः ऐसा देखा जाता है कि धन, द्रव्य अथवा सम्पत्ति के सम्बन्ध में बातचीत छिड़ने पर अनेक लोगों के अनेक विचार पाये जाते हैं। कोई तो वैराग्य धारण करके कह बैठते हैं कि धन बहुत ही बुरी वस्तु है, उससे अमुक अमुक हानियाँ होती हैं अतएव उसे एक अत्यन्त तुच्छ और त्याज्य वस्तु समझना चाहिये। ऐसा कहनेवाले लोग ठीक उसी तरह के होते हैं जो अंगूर के न मिलने के कारण उसे खट्टे कहा करते हैं। ये हृदय से तो "भज कलदार" का मन्त्र जपते रहते हैं, परन्तु कुछ न मिलने के कारण लोगों के सामने मुँह से अपनी त्यागवृत्ति का परिचय दिया करते हैं। एक प्रकार के लोग और होते हैं जिनका मत उक्त मत के बिलकुल विरुद्ध होता है। ये कहा करते हैं कि संसार में ईश्वर का यदि कोई सगा भाई है तो वह केवल धन-सम्पत्ति ही है। इनका यह कहना है कि बिना धन के हमारा कुछ भी—छोटे से छोटा भी—काम नहीं हो सकता, यहाँ तक कि हम बिना धन के खा पी भी नहीं सकते, सो नहीं सकते, बैठ नहीं सकते, चल नहीं सकते, और कहाँ तक कहें, साँस भी नहीं ले सकते! ये सब लोग धन की शक्ति का वर्णन करने में

अत्युक्ति से काम लिया करते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इन दोनों प्रकार के लोगों का मत भ्रममूलक और अज्ञान से परिपूर्ण हैं। यथार्थ बात यह है कि धन न तो इतनी तुच्छ और त्याज वस्तु है, जैसा कोई कोई लोग लाचारी से कहा करते हैं, और न वह इतनी अधिक महत्त्व पूर्ण वस्तु है जिसके महत्त्व का दिग्दर्शन कराने के लिए बढ़ कर लम्बी चौड़ी बातें बनानी पड़ें। हाँ इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि धन के विषय में अपात्रता और आलस्यजन्य घृणा रखने से काम नहीं चलेगा। हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि धन एक उपयोगी वस्तु है। उसके बिना हमारा सांसारिक जीवन दुःखपूर्ण और कष्टमय हो जाता है। बहुतेरे लोग धन-कष्ट के कारण निराश होकर संसार को असार समझने लगते हैं। कोई कोई तो धनाभाव के कारण अपने धनी पड़ोसियों से घृणा भी करने लगते हैं। जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति करने के लिए प्रस्तुत लेखमाला में जितने साधन बतलाये जा चुके हैं अथवा आगे बतलाये जायंगे, उनमें अवस्थानुसार उपयुक्त धन का भी एक बड़ा भारी भाग है। सच बात यह है कि बिना धन के संसार में मनुष्य का व्यावहारिक जीवन शिथिल होकर किसी काम का नहीं रहता। इसलिए यही उचित है कि हम आलस्यमय विवादों के द्वारा द्रव्य या धन को तिरस्करणीय वस्तु न समझें किन्तु सच्चे और खुले हृदय से संकोच रहित होकर यह मान लें कि धन एक उपयोगी वस्तु है जिसके न होने से मनुष्य की वही दशा होगी जो एक पङ्ख रहित पक्षी की होती है।

सब लोग जानते हैं कि पैसे के लिए रात दिन अत्यधिक हाय हाय करते रहने का क्या फल होता है।

अधिक लोभ तथा तृष्णा का बुरा परिणाम किसी से छिपा नहीं है। इसके साथ एक और भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि अधिक धनराशि होने के साथ कई बातों का डर बना रहता है, चिन्ता पीछा नहीं छोड़ती। चारों के भय से रात को नींद नहीं आती, कुटुम्बीजनों में झगड़े लगे रहते हैं, इत्यादि। परन्तु यदि अधिक धन के साथ बहुत सी आपत्तियाँ लगी हुई हैं, तो सोचने की बात है कि क्या दरिद्रता के साथ कितनी ही भयङ्कर आपत्तियाँ नहीं लगी होतीं। ऐसा कहने का यही कारण है कि धन एक बड़ी भारी शक्ति है, और जब शक्ति के रहते हुए भी आपत्तियाँ आ सकती हैं, तब शक्ति के अभाव में अर्थात् दरिद्रता की दशा में तो फिर और भी अधिक अनर्थ हुआ करेंगे, क्योंकि "धनक्षये दीव्यति जाठराग्निः" और "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति" का उदाहरण प्रति दिन देखने में आता है। यदि धन के साथ एक आपत्ति है, तो दरिद्रता के साथ दस आपत्तियाँ अवश्य ही रहती हैं। देखिए निर्धनता कितनी अनर्थकारिणी राक्षसी है। इनका वर्णन हमारे नीतिज्ञ पूर्वजों ने इस तरह किया है—

> दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्वात्परिभ्रश्यते,
> निःसत्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
> निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते,
> निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥

अर्थात् "दरिद्रता के कारण सङ्कोच और लज्जा आती है, लज्जा के कारण धैर्य चला जाता है, धैर्य के चले जाने से पराभव होता है, पराभव होने से खेद होता है, खेद होने से शोक और पश्चात्ताप होता है और शोक से क्षय अर्थात् नाश होता है, इसलिए दरिद्रता सब आपत्तियों की जननी

है" इतना ही नहीं, दरिद्रता निराशा और उदासीनता में बड़ी भारी मित्रता है—ये सब एक हो स्थान में निवास करते हैं। दरिद्रता एक ऐसी वस्तु है जिसका स्वीकार करना किसी को भी अच्छा नहीं लगेगा। उसे कोई मनुष्य लाचारी ही से स्वीकार करता है। दरिद्रता से दासत्व प्राप्त होता है और बुढ़ापे में धनहीन मनुष्य अपने कुटुम्ब और मित्रों का भार स्वरूप हो जाता है।

इसलिए धन को घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। घृणा की दृष्टि से देखने योग्य वस्तु है धन की तृष्णा; धन तो बहुमूल्य वस्तु है। धन ही से हमारे सदाचार की—ईमानदारी, न्यायप्रियता, उदारता, मितव्ययिता, दूरदर्शिता, परोपकार, आत्मत्याग इत्यादि की—परीक्षा होती है। यों तो धन सदैव से बहुमूल्य माना जाता है, परन्तु आजकल के विज्ञानयुग में, और पश्चिमी सभ्यता की उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण, उस की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। समय ऐसा आ पहुँचा कि बिना द्रव्य के अनेक सद्गुणों का विकास ही नहीं हो सकता। क्या व्यक्ति विषयक जीवन-संग्राम में और क्या राष्ट्रीय जीवन-संग्राम में विजय प्राप्ति के लिए द्रव्य एक बहुत बड़ा साधन है। समाचार-पत्रों के पढ़नेवाले जानते हैं कि हाल के यूरोपीय महायुद्ध में प्रतिदिन कई करोड़ रुपये स्वाहा हो रहे थे! यथार्थ में यह युद्ध यूरोप की अधिक शक्ति का एक अच्छा नमूना है। सारांश, प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने कुटुम्ब, समाज, देश और राष्ट्र के सांसारिक सुख के लिए द्रव्य का यथोचित उपयोग करे। इसके लिए सबसे सहल युक्ति यही है कि प्रत्येक दशा में हमें अपनी आमदनी से ख़र्च कम करना चाहिए। स्मरण रहे कि धन का उचित उपयोग करने

में उसे कमाने में, उसके ख़र्च करने में, तथा बचत करने में—ही किसी भी मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि का पता चल सकता है। धन का उचित उपयोग ही व्यावहारिक बुद्धि की कसौटी है।

धन के विषय में हमें तीन बातों का विचार सदैव रखना चाहिए:—(१) धन कैसे और किन उपायों से कमावें, (२) ख़र्च, कैसे करें, और (३ कैसे बचावें। धनोपार्जन में सबसे पहले धैर्य न रखने की आवश्यकता होती है। धैर्य न रखने से मनुष्य लोभी होकर उसके लिए बुरे कामों को भी करने के लिए तत्पर हो जाता है। धन कमाने का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपाय यह है कि आवश्यकता पड़ने पर हमें अपने बाप-दादों की काम करने की पुरानी और निरुपयोगी रीतियों को साहस के साथ त्याग देना चाहिए, नहीं तो कभी बहुत ही हानि उठानी होगी। धन कमाने का तीसरा उपाय यह है कि सब कामों को देश काल की आवश्यकता के अनुकूल ही करना चाहिए। ख़र्च करने में मनुष्य को विशेष सावधान रहना चाहिए क्योंकि इसी पर उसका भविष्य निर्भर है। ख़र्च करने की आवश्यकता हमें तीन कारणों से होती है, यथा प्राण रक्षा के लिए, अपनी इज्जत क़ायम रखने के लिए और कोई सत्कार्य करने के लिए। यदि इनको छोड़ कर और किसी हेतु से ख़र्च किया जाय तो वह अपव्यय तथा धन का दुरुपयोग होगा। धन के बचाने के पहले यह देख लेना चाहिए कि हमारी सब आवश्यकतायें पूरी हो गईं कि नहीं नहीं, तो ऐसा देखा जाता है कि कोई कोई मनुष्य अशर्फ़ियाँ लुटाकर एक कौड़ी का मोह करने वाले भी होते हैं। हमें कुछ न कुछ बचाने के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए, इस बात की कोई परवा

नहीं करनी चाहिए कि हम रोज़ बहुत नहीं बचा सकते। कितने ही धनहीन पुरुष कौड़ी कौड़ी जोड़ कर धनवान् होते देखे गये हैं। और कुछ नहीं तो यह सोच कर तो अवश्य ही कुछ धन सञ्चय करना चाहिए कि मनुष्य-शरीर के साथ बहुत सी आपत्तियाँ लगी हुई हैं। जो मनुष्य अपनी पूरी आमदनी को ख़र्च कर डालता है उसे आर्थिक भाषा में मूर्ख कहते हैं क्योंकि वह अपने को जन्म भर दास बनाये रखने में आप ही सहायक होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि धन एक बड़ी भारी शक्ति है। धनवान् मनुष्य विद्या-हीन होने पर भी बहुत ही प्रभावशाली होता है। समाज में उसकी बातों का बहुत आदर होता है। बुद्धिमान् आदमी भी उसकी हाँ में हाँ मिलाया करते हैं। किसी ने ठीक कहा है कि "जिसके पास धन है वह मनुष्य कुलीन है, वह बड़ा अच्छा वक्ता और दर्शनीय पुरुष है, वह बड़ा भारी पंडित है क्योंकि समस्त गुण कांचन अर्थात् द्रव्य के आश्रयभूत हैं।" निर्धन मनुष्य की बात उसके घर में भी कोई नहीं मानता और धनवान् मनुष्य दूसरों के घर में भी जाता है तो वहाँ उसकी देवता के समान पूजा होती है। इसीलिए किसी ने कहा है कि "निज सदनहु नहिं मानहीं, निर्धन जन को कोय। धनी जाय पर घर तऊ, सुरसम पूजा होय।" इतना ही नहीं, वरन् यह भी देखा जाता है कि "निरबुद्धी धनवान् को, मानत सकल जहान। लखि दरिद्र विद्वान् को, जगजन करें गलान।" इन बातों से सिद्ध होता है कि धन एक बड़ी शक्ति है। धन को बहुत से लोग "बुराइयों की जड़" समझ कर उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं परन्तु यह उनकी भूल है। "बुराइयों की जड़" धन की तृष्णा और लोभ

हैं, स्वयं धन नहीं। इसलिए विद्वानों ने धन को, 'उत्तम सेवक' और "दुष्ट स्वामी" कहा है।

परन्तु इतना होने पर भी धनोपार्जन करते रहना ही हमारे जीवन का ध्येय तथा परम उद्देश नहीं है, वह हमारे जीवन के विशिष्ट उद्देश का केवल साधनमात्र है। मान लो कि हमारे पास अटूट सम्पत्ति हो गई है परन्तु हम रात दिन उसे उत्तरोत्तर बढ़ाने की ही चिन्ता में लगे हुए हैं, हमें खाना पीना नहीं सूझता और नींद भी नहीं आती। तब ऐसे धन से क्या लाभ होगा? कुछ नहीं, केवल हम जन्म भर कष्ट उठाने के ही मालिक रहेंगे, खाना और ख़र्च करना तो हमसे हो नहीं सकेगा। अन्त में जिस तरह मधुमक्खियों की दशा होती है वही दशा हमारी भी हो जायगी। हाथ मल मल कर पछताने के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगेगा। जन्म भर शरीर को कष्ट दे देकर जमा तो हम करेंगे, परन्तु उसका उचित उपयोग तथा उपभोग हम नहीं करने पावेंगे। और फिर जब अपने पास की अधिक सम्पत्ति का कुछ भी उपभोग नहीं हुआ, तब उसके होने से लाभ ही क्या है? जैसे अन्य मनुष्य सेर भर खाया करते हैं वैसे ही धनवान भी सेर ही भर खाता है। सच पूछो तो धन का महत्त्व उसका उचित उपयोग करने से ही बढ़ता है। क्योंकि—

............................Surely use alone,
Makes money not a contemptible stone.

जिस धन का कुछ उपयोग नहीं होता वह फेंक देने योग्य किसी तुच्छ कंकर से बढ़कर नहीं है। जिस धन से हम अपनी, पराधीनता को नष्ट करके स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सके जिस धन से हम अपने दारिद्र-पीड़ित भाइयों के कष्टों को

दूर न कर सके, तथा जिस धन से हम ईश्वर के विराट्-स्वरूप संसार के किसी अंश को भी सुखी नहीं कर सके, उसे क्या कहना चाहिए। उसका 'धन' नाम ठीक होगा कि 'मिट्टी'? धन एक ऐसी वस्तु है जिसके अभाव में हमें बहुत ही दुःख होता है और धन केवल दुःखों को दूर करने के लिए ही कमाया जाता है। यदि यह बात सच है तो जिस धन के कमा लेने पर हमारे दुःखों की कमी न हो वह धन नहीं है। वह हमारे सिर पर एक प्रकार का बोझ है जो केवल हमारे मरने पर ही उतर सकता है, अन्यथा नहीं जो मनुष्य अपार सम्पत्ति का स्वामी है परन्तु उसका कुछ भी सदुपयोग नहीं करता वह धनवान् नहीं है, यह किसी विशिष्ट जाति, देश या राष्ट्र का केवल गुमाश्ता या ख़ज़ाञ्ची है। वह बेचारा जीते जी उस सब धन का पाई पाई का हिसाब रक्खेगा और मरने पर उसका 'चार्ज' किसी दूसरे को देकर इस संसार से बिदा हो जायगा। उसकी सब आयु धन की रखवाली करने में ही नष्ट हो जावेगी। ऐसे मनुष्य की स्थिति और ज़िन्दगी पर शोक है!

यहाँ एक बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। धन का सदुपयोग क्या है? जब तक धन के सदुपयोग और दुरुपयोग का अन्तर हम नहीं समझ लेंगे तब तक बहुत सम्भव है कि हम धन का व्यय अनर्थकारी कर्मों में करने लगें। यदि हमें दान करना है तो पात्रापात्र का विचार अवश्य रखना चाहिए। यदि हमें भोजन करना है तो उसकी भी सीमा नियत है। जो भोजन हमें रोगी तथा आलसी बना देता है वह किसी काम का नहीं। वस्त्र-आभूषणों का भी विचार रखना चाहिए। ऐसे कपड़े कभी नहीं पहनने चाहिएँ जो हमारी हैसियत के प्रति-

कल हों अथवा जिनके पहनने से हमें कोई छैल-छबीला समझने लगे। वर्तमान समय के हिन्दू-समाज में बहुत सी ऐसी सामाजिक कुरीतियाँ और कुप्रथायें भरी पड़ी हैं जो उस समाज के ख़ून को चूस चूस कर स्वयं दिनोंदिन पुष्ट हो रही हैं। ज्ञान-दृष्टि के न होने से लोगों में इतना साहस नहीं है कि वे इन बन्धनों को तोड़ सकें। खेद के साथ कहना पड़ता है कि जब तक ये कुरीतियाँ समूल नष्ट न की जायँगी तब तक हिन्दू-समाज मरणोन्मुख ही होता जायगा। कुरीतियों के कारण कोई मनुष्य उन्नति के मार्ग में तो अग्रसर हो ही नहीं सकता, उलटा उसे कर्ज़ लेकर अपना काम चलाना पड़ता है। क्योंकि वह यही चाहता है कि उसके कुटुम्बी-जन उसे अच्छा और उदार समझा करें। इसका फल द्रव्य के अपव्यय के सिवा और क्या हो सकता है। ऐसी स्थिति में उचित तो यही है कि हम अपनी नाममात्र की आवश्यकता को कम करें और हो सके तो उनका सर्वथा त्याग करें।

अपनी आमदनी के अनुसार व्यय करने में बड़ी बुद्धिमानी की आवश्यकता होती है। जिस मनुष्य का व्यय आय से अधिक हो उसका ईमानदार होना बहुत कठिन है। इसलिए जिस मनुष्य की सच्चरित्रता की थोड़ी भी क़ीमत मालूम है उसे चाहिए कि वह आमदनी से अधिक ख़र्च कभी न करे। कोई कोई मनुष्य कहा करते हैं कि थोड़ी आमदनी होने के कारण हमारा बहुत ख़र्च हो जाता है, परन्तु यह उनकी भूल है। सच बात तो यह है कि आमदनी जितनी बढ़ती जाती है उतनी ही कठिनाई से उससे गुज़र भी होती है। इसका एकमात्र कारण यही है कि जिस परिमाण से किसी मनुष्य की आमदनी बढ़ती है उससे अधिक परिमाण से उसकी ख़र्च करने

की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है । इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह इस ख़र्च की प्रवृत्ति को रोके और कुछ न कुछ हमेशा बचा लेने का प्रयत्न करता रहे । यही बचत आगे चल कर उसकी बड़ी भारी पूँजी हो जायगी। अधिक द्रव्य कमाने में सुख नहीं होता, सुख कम ख़र्च और सन्तोष रखने में होता है। सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य को संयमी और स्वार्थ-त्यागी होना पड़ेगा, क्योंकि निर्जीव सोने चाँदी (द्रव्य) में इतनी शक्ति नहीं है कि वह मनुष्य के लिए स्वास्थ्य ख़रीद सके। मनुष्य जो कुछ कमाता है वह उसकी आमदनी नहीं है, उसकी असल आमदनी वही है जिसे वह बचाता है । कोई कोई मितव्ययिता को भूल से कंजूसी समझ लिया करते हैं परन्तु मितव्ययिता कंजूसी को नहीं कहते । मितव्ययिता का अर्थ है अपनी स्थिति तथा आय के अनुसार किसी सीमा तक ख़र्च करना। मितव्ययिता एक सद्‌गुण है परन्तु कंजूसी दुर्गुण है । संसार के अधिकांश लोगों की दरिद्रता तथा पराधीनता का एक मुख्य कारण यही है कि वे "थोड़ी-थोड़ी" बचत करते रहने को तुच्छ समझते हैं। जो मनुष्य प्रति-मास दो ढ़ाई रुपये भी बचा सकता है वह साल के अन्त में पचीस तीस रुपये का मालिक हो सकता है और जो मनुष्य अपनी लोलुपता को पूर्ण करने के लिए महीने में केवल दो ढ़ाई रुपये नष्ट कर देता है वह साल के अन्त में उस संयमी मनुष्य के सामने ग़रीब का ग़रीब ही रह जाता है।

परन्तु इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि धन एक आवश्यक वस्तु है तथापि केवल धन से ही मनुष्य का जीवन सफल नहीं हो सकता । जिस मनुष्य में कोई भी मानसिक गुण नहीं है, जो मानसिक सदाचरण को

तुच्छ समझता है, जो हृदय-शून्य और भूत-दया-रहित है, वह यदि धनवान् भी हो तो किसी काम का नहीं, क्योंकि वह धन के एक बड़े भारी "थैले" से बढ़कर नहीं है। धन से भी अधिक मूल्यवान् वस्तु मनुष्य की योग्यता या शील है, क्योंकि न तो कोई इसका हरण कर सकता और न कोई इसका नाश कर सकता है। प्रत्युत इसी से मनुष्य में धनोपार्जन की शक्ति और पात्रता आती है। धनोपार्जन की योग्यता ही धन है, धन को धन नहीं कहते, क्योंकि मनुष्य के धन का नाश हो जाता है परन्तु योग्यता नष्ट नहीं होती। इसीलिए कहा गया है कि—

न हि धनं धनमित्याहुर्धनमर्जनयोग्यता।
हीयते हि धनं पुंसां योग्यता तु न हीयते॥

अतएव पहले हमें पात्रता प्राप्त करनी चाहिए। फिर धन द्रव्य तो छाया के समान आप ही आप हमारे अनुगामी हो जायँगे।

इस लेख में कुछ और आवश्यक बातें विस्तार भय से नहीं लिखी जा सकी हैं। वे ये हैं—अपने आयव्यय का यथोचित लेखा रखना, और जीवन को संयम-शील बनाना, ऋण-रूपी सर्वनाशकारी अग्नि से सदैव बचना, इत्यादि, इत्यादि। ये यद्यपि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें हैं तथापि ऐसे बहुत ही कम कामकाजी पुरुष होंगे जो इन बातों की अवहेलना करने का कुफल न देख चुके हों अथवा स्वयं न भोग चुके हों। इस लिए इन पर यहाँ अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऋण-कर्ता और असंयमी पुरुष सभी जगह पाये जाते हैं और इनकी दशा सदा के लिए शोचनीय ही रहा करती है। इसीलिए जो मनुष्य अपनी भविष्य आपत्तियों से बचने के

लिए तथा स्वतन्त्रता रूपी सर्वोत्तम मानवी स्वत्व को सचाई से प्राप्त करने के लिए कुछ द्रव्य-सञ्चय करना चाहता है, उसे सबसे पहला पाठ संयम-शील होकर ऋण न करने का सीखना पड़ेगा। द्रव्य के विषय में वाल्टन नामक ग्रन्थकार के उपदेश का संक्षिप्त सारांश यह है—

"ईमानदारी से धनवान् होने का यत्न करो, नहीं तो सन्तोष-पूर्वक दरिद्री बने रहो! इस बात की ख़ूब जाँच कर लो कि तुम्हारा सब द्रव्य ईमानदारी और न्याय से प्राप्त हुआ है, नहीं तो तुम्हारा सब जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। कहा है कि जिसने अपने अन्तःकरण के विवेक को खो दिया है वह यथार्थ में उन सब वस्तुओं से रहित हो चुका जो इस संसार में अच्छी समझी जाती हैं। विवेक के साथ अपने स्वास्थ्य की ओर भी ध्यान दो। जिस मनुष्य के पास विवेक और स्वास्थ्य दोनों हैं वही सचमुच ईश्वर की कृपा का पात्र हो सकता है। तीसरी बात है द्रव्य। इसका अनादर मत करो, परन्तु इस बात को भी मत भूलो कि मनुष्य के जीवन में धनवान् होने ही की कुछ आवश्यकता नहीं है।"

———

६--उत्तम-शील

"शीलं परं भूषणम्"—भर्तृहरिः।

जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्त करने के लिए जो साधन आवश्यक हैं उनमें उत्तम शील का आसन बहुत ऊँचा है। इतना ही नहीं, बल्कि यह कहने में भी कोई अत्युक्ति न होगी कि इस विजय के लिए बुद्धिमानी, ओहदा तथा धन-सम्पत्ति की अपेक्षा उत्तम शील की अधिक आवश्यकता है। बहुधा देखा गया है कि सम्पत्ति-मान् तथा शिक्षित मनुष्य भी उत्तम शील के अभाव में अपनी उद्दण्ड वृत्ति के कारण अपमानित और नष्ट हो जाता है, और धनहीन तथा अल्प शिक्षित मनुष्य शीलवान् होने के कारण समाज में पूज्य माना जाता है। जिस मनुष्य में उत्तम शील होता है उसे अपने विषय में दूसरों से सिफ़ारिश कराने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसका सिफ़ारिश करने वाला स्वयं उसका शील है। विदेश-यात्रा में और अपरिचित मनुष्यों के बीच में किसी मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ सहायक केवल उसका शील ही हो सकता है। यह प्रतिदिन देखा जाता है कि कोई मनुष्य चाहे वह कितना भी उच्च उद्देश युक्त और सम्यक् रीति से लिखा पढ़ा हो, जब किसी समाज में असभ्यता का आचरण करने लगता है तब उसको चौबे से दुबे बनना पड़ता है।

सब लोग ऐसे मनुष्य की संगति का त्याग करना ही अधिक पसन्द करते हैं।

अमुक मनुष्य कैसा है, यह बात इससे नहीं जानी जा सकती कि वह क्या कहता है; या कौन सा काम करता है। इस बात को जानने के लिए यह देखना चाहिये कि वह मनुष्य किसी काम को किस रीति से करता या कहता है। उसकी कहने या करने की रीति से उसके चरित्र का—उसके शील का—पूर्णतया पता लग सकता है। कोई मनुष्य जब कुछ कहता या करता है, उस समय उसके बोलने, देखने, हिलने, डुलने या अन्य कर्मों से उसका आन्तरिक और स्वाभाविक भाव आप ही मालूम हो जाता है। किसी मनुष्य पर अल्प धन-सम्बन्धी कृपा दिखलाने से वह उतना प्रसन्न नहीं होगा जितना वह उस सज्जनता से होगा जो कि उसके साथ अल्प धन देते समय दिखलाई गई हो। यदि किसी को कठोर वचन के साथ कुछ द्रव्य दिया जावे तो वह कभी प्रसन्न नहीं होगा। इससे स्पष्ट है कि द्रव्य उसकी प्रसन्नता तथा कृतज्ञता का उतना बड़ा कारण नहीं है जितना उसे द्रव्य देने का तरीक़ा है। इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि यदि किसी मनुष्य की इच्छा को पूर्ण न भी कर सकें और हम उसे नम्रतापूर्वक टाल भी दें तो वह कभी बुरा न मानेगा।

शीलवान् मनुष्य में यह विशेष गुण होता है कि वह स्वयं प्रफुल्लित रह कर अपने साथियों को भी प्रफुल्लित बनाये रखता है। मामूली बात है कि यदि दो मनुष्य किस्से कहानी कहने के लिए बैठ जायँ और दोनों एक ही कहानी को कहें, तो सम्भव है कि उनमें से एक की शैली अधिक मनोरञ्जक

और चित्ताकर्षक मालूम होगी और दूसरे की शैली नीरस तथा आलस्यजनक होगी। इसका कारण यह है कि एक मनुष्य तो उसे इस रीति से कहेगा कि सुनने वाले सब मुग्ध हो जायँ परन्तु दूसरे में इस बात का अभाव रहेगा। तात्पर्य यह है कि उत्तमशील किसी मनुष्य को छोटी-बड़ी सभी बातों में शीघ्र ही समाज-प्रिय बना देता है।

नम्रता और सहिष्णुता शील के प्रधान अंग हैं। सच्चा शीलवान् और सत्पुरुष वही है जो दूसरों की छोटी-छोटी बातों और नाममात्र के अपराधों को उदारता-पूर्वक क्षमा कर दिया करे। जो दूसरों की तुच्छ और भूल जाने योग्य बातों पर झट क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाता है, उसे इस बात की आशा कभी नहीं रखनी चाहिए कि दूसरे लोग उसे भी उसकी क्षम्य उद्दण्डता तथा उच्छृङ्खल वृत्ति के लिए क्षमा प्रदान करेंगे। मनुष्य समाज एक बृहत् न्यायाधीश है। इसमें इतना सामर्थ्य अवश्य है कि वह अन्त में किसी मनुष्य की योग्यता का सच्चा निर्णय कर ले। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह ऐसा आचरण कभी न करे जिससे अन्य लोगों को यह कहने का मौक़ा मिल जाय कि वह मनुष्य नीच तथा स्वार्थ-वृत्ति का है। कोई कोई मनुष्य अपनी विद्वत्ता या धन के घमंड से अन्य लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं परन्तु यह उनकी भूल है। आँखें खुलने पर उनको इसके लिए पश्चात्ताप करना पड़ेगा। दूसरों की गुप्त बातों को जानने का प्रयत्न करना, जान लेने पर उन्हें प्रकट कर देना, सम्भाषण करते समय अपनी ही खिचड़ी पकाते रहना और अपनी तारीफ़ करते जाना, अपनी बुद्धिमानी दिखाने के लिए दूसरे की बातों को व्यर्थ काटते जाना, किसी की कुछ न सुनना, बहुत ज़ोर से

हँसना, पूज्य जनों का अपमान और हँसी करना, किसी नये अतिथि से असभ्य आचरण करना या उसकी ओर टकटकी लगाये रहना, दूसरों की ग़लतियों पर हँसना, इनाम या सम्मान पाने पर कृतज्ञता प्रकाशित न करना, दूसरे से जो प्रश्न किया गया है उसका उत्तर स्वयं दे बैठना इत्यादि बातें ऐसी हैं जो मनुष्य के शील में बाधा डालती हैं। जो मनुष्य अपना हित चाहता है उसे इनसे सदैव बचते रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

बहुत से होनहार पुरुष समाज में केवल इसलिए घृणित और अपमानित हो जाते हैं कि उनमें दूसरों पर टीका-टिप्पणी करने की आदत सी पड़ जाती है। दूसरों से अनुचित हँसी किये बिना इनका अन्न हो नहीं पचता। कोई कोई तो ऐसे महात्मा होते हैं कि वे अपने अच्छे से अच्छे मित्र को भी शत्रु बना लेने के लिए तैयार रहते हैं परन्तु मज़ाक करने की अपनी बुरी आदत को नहीं छोड़ सकते! यथार्थ में देखा जाय तो जैसे किसी मनुष्य को अनुचित कार्य करने का अधिकार नहीं है उसी तरह उसे अनुचित हँसी करने का भी अधिकार नहीं है। इससे लाभ तो कुछ नहीं होता उलटी यह हानि होती है कि जो मनुष्य समस्त जीवन भर तुम्हारा सहायक होता वह तुम्हारी मूर्खता के कारण सदा के लिए तुम्हारा शत्रु बन बैठता है। यदि मित्रता रूपी फलते फूलते पौधे को नष्ट करना हो तो उसके लिए हँसी-दिल्लगी से बढ़कर विष कहीं भी नहीं मिल सकता। बौद्ध-धर्म में किसी के दिल को चोट पहुँचाना हिंसा माना गया है, पर सच तो यह है कि यह आत्महित का भी घातक है। इस लिए इन बातों में हमें सदैव सावधान रहना चाहिए। कोई कोई मनुष्य कहा करते हैं कि ये बातें तुच्छ हैं, इनसे शील

और सच्चरित्रता पर कुछ धब्बा नहीं लग सकता, परन्तु स्मरण रहे कि चरित्र का अच्छा या बुरा होना इन्हीं तुच्छ बातों की अधिकता या न्यूनता पर अवलंबित है जिस तरह हम कौड़ी कौड़ी बचाकर कुछ समय में धनवान् हो सकते हैं, उसी तरह हम छोटी छोटी बातों पर ध्यान देकर सज्जन और शीलवान् भी हो सकते हैं।

उत्तम शील किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही आवश्यक नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा अमूल्य गुण है जिसके बिना मनुष्य किसी भी व्यवसाय में या किसी भी प्रकार की जीवन-यात्रा में सुखी और सफल-मनोरथ नहीं हो सकता। संसार में ऐसे बहुत से कुरूप, धनहीन और विद्याहीन मनुष्य हो गये हैं जो केवल शीलवान् और सदाचारी होने के कारण इतिहास के पृष्ठों को अलंकृत करके अपना नाम अजर अमर कर गये हैं। माननीय मिस्टर गोखले के विषय में कहा जाता है कि वे लोगों को अपनी उत्तम वक्तृत्वशक्ति और विद्वत्ता से जितना प्रसन्न करते थे उससे कहीं अधिक वे उन लोगों को अपने शील से प्रसन्न किया करते थे और अपने विषय की ओर झुका लेते थे। जस्टिस रानडे में इतनी शक्ति थी कि वे कट्टर से कट्टर अपराधी से भी उसका अपराध स्वीकृत करा लिया करते थे। डी० एन० ताता ऐसे कार्यकुशल हो गये हैं कि उनको देखते ही उनकी कम्पनी के नौकरों में कार्य करने की स्फूर्ति आ जाया करती थी। सर जमसेटजी यद्यपि पहले निर्धन व्यवसायी थे तथापि वे अपने मधुर-भाषण और अनुकरणीय शील के कारण अपार सम्पत्ति के स्वामी हो गये हैं। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन समस्त देशरत्नों के जीवन हमें पुकार कर शीलवान् बनने का उपदेश दे रहे हैं।

कुछ लोगों में यह भ्रमात्मक धारणा पाई जाती है कि शीलवान्, नम्र तथा मिष्टभाषी पुरुष का दूसरों पर कुछ प्रभाव नहीं होता, अर्थात् उसका रोबदाब दूसरों पर नहीं जमता। परन्तु यह बिलकुल मिथ्या है। सच बात तो यह है कि ऐसे मनुष्यों का जाति, समाज और देश पर इतना असर होता है, कि किसी प्रभुता प्राप्त अधिकारी मनुष्य का भी नहीं होता। क्योंकि ऐसे मनुष्यों का रोबदाब और प्रभाव दूसरे मनुष्य के हृदय-पटल पर प्रेम के स्वाभाविक बंधन से अङ्कित हो जाता है, परन्तु जो मनुष्य अपना प्रभाव दूसरों पर शक्ति का उपयोग करके जमाता है वह प्रभाव शक्ति के ह्रास होने से नष्ट हो जाता है, अतएव वह चिरस्थायी नहीं हो सकता। नम्र, शीलवान् और मिष्ट-भाषी होना मानसिक दुर्बलता नहीं है, प्रत्युय वह एक ऐसी मानसिक-शक्ति है जिसके सामने नीचता, कटोरता और दुर्जनता आदि पशुवृत्तियाँ लाचारी से शिर झुकाया करती हैं।

परन्तु ऊपरी और दिखावटी शील में इतनी शक्ति नहीं हो सकती। असल और नकल में भेद रहता है। सिवा इसके एक बात यह भी है कि ऐसे शील का भंडा शीघ्र ही फूट जाता है। सभ्यता के तत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को पढ़ लेने से ही शील नहीं आ जाता, क्योंकि शीलवान् मनुष्यों को स्वार्थ और मानापमान के विचार का त्याग करना पड़ता है मनुष्य का सच्चा शील ही उसके सांसारिक और पारलौकिक कल्याण का मुख्य साधन है। सच्चे शील की सहायता से ही मनुष्य को धर्म, यश, सम्पत्ति ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्य आदि सब गुणों की प्राप्ति होती है। इस विषय में महाभारत के शान्ति-पर्व में एक

प्राचीन कथा है जिसे भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा है। उसका सारांश यह है।

इन्द्र स्वयं ब्रह्मज्ञानी था। उसने बहुतों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था परन्तु जब वह एक समय अपने राज्य से भ्रष्ट हो गया और प्रह्लाद त्रिलोकी का स्वामी हुआ, तब उस ने अपने गुरु बृहस्पतिजी से यह कहा "मुझे बतलाइए कि मेरा श्रेय किसमें है?" तब गुरु ने इन्द्र को आत्मज्ञान का उपदेश करके कहा कि श्रेय इसी में है। इस उत्तर से इन्द्र का समाधान नहीं हुआ। उसने फिर प्रश्न किया—"क्या और भी कुछ अधिक है?" तब गुरु ने उसे शुक्राचार्य के पास भेज दिया। वहाँ भी वही हाल हुआ। शुक्राचार्य ने कहा, मैं कुछ अधिक नहीं जानता, तुम प्रह्लाद के पास जाओ" अन्त में राज्यभ्रष्ट इन्द्र ब्राह्मण-वेषधारी हो प्रह्लाद का शिष्य बनकर उनकी सेवा करने लगा। एक दिन प्रह्लाद ने इन्द्र से कहा कि "शील ही त्रैलोक्य के राज्य पाने की सच्ची कुञ्जी है और यही श्रेय है। बस, इन्द्र का काम हो गया। प्रह्लाद इन्द्र की सेवा से प्रसन्न हो गये थे। उन्होंने कहा वर माँगो। ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र ने यह माँगा कि आप मुझे अपना शील दे दीजिए। प्रह्लाद "तथास्तु" कहते ही उसके "शील" के साथ धर्म, सत्य, वृत्ति, श्री, ऐश्वर्य आदि सब उसके शरीर से निकल कर इन्द्र के शरीर में प्रविष्ट हो गये। फलतः इन्द्र अपने राज्य को पा गया। इस कथा से पाठकों को शील का महत्त्व भली भाँति मालूम हो जायगा और यह भी ज्ञान होगा कि शील के विषय में हमारे पूर्वजों के विचार कैसे थे।

यदि उत्तम शील से सचमुच इतने लाभ हो सकते हैं, यदि उसे मनुष्य सम्पत्ति और यश बिना व्यय किये पा सकता

है, यदि शील के द्वारा सचमुच तलवार से भी अधिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है, अधिक क्या कहें, यदि शील होने पर हमारी जीवनयात्रा के सभी विघ्न-कंटक दूर हो सकते हैं, तो हमें उत्तम शीलवान् होने का प्रयत्न क्यों नहीं करना चाहिए? बात तो यह है कि "विद्या ददाति विनयं" के अनुसार सभी शिक्षाओं का यह उद्देश होना चाहिए कि वे हमें चरित्रवान् और सुशील नागरिक बनावें। प्रिय विद्यार्थियो! तुम लोग देश के भावी स्तम्भ माने जाते हो। तुम सोचो तो सही कि बिना सज्जनता के कोई मनुष्य अपने देश का हित कैसे कर सकता है? थोड़ी ही अवस्था के उपरान्त देश और समाज के हित की बागडोर तुम्हारे हाथ में सौंप दी जायगी। फिर विना उत्तम शील के क्या तुम अपने कर्त्तव्य को समुचित रीति से पूर्ण कर सकोगे? इसीलिए देश-हित-चिन्तकों को विद्यावान् और कर्त्तव्यवान् बनने के साथ ही शीलवान् बनने की भी आवश्यकता है। देखिए, हमारे राजयोगी भर्तृहरिजी क्या उपदेश देते हैं—

> ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता, शौर्यस्य वाक्संयमः
> ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
> अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
> सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥

सारांश यही है कि जीवन-संग्राम में सफल-मनोरथ होने के लिए शील एक ऐसा उपाय है जो प्रत्येक मनुष्य के स्वाधीन है। यथार्थ में शीलवान् होना अपने ही ऊपर अवलंबित है। शीलवान् मनुष्य को अपने बाह्य आचरण तथा आन्तरिक मनोभावों पर भी ध्यान देना चाहिए। जिस प्रकार प्रसन्नता

नम्रता, सहिष्णुता, उदारता आदि उच्च भाव आवश्यक हैं, उसी प्रकार 'किसी की अनुचित हँसी न करना' ऐसी छोटी छोटी बातें भी आवश्यक हैं। शील ही मनुष्य का सच्चा जीवन चरित है। इसका अभ्यास छात्रावस्था से ही होना चाहिए। बड़ी उमर में शील का बदलना कष्ट-साध्य और कभी कभी तो असम्भव भी हो जाता है।

१—सच्ची और झूठी सफलता
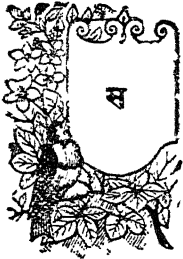
सफलता के विषय में कुछ लिखने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि सफलता किसे कहते हैं। बहुत लोग सफलता का यह अर्थ करते हैं कि उनको कार्य या प्रयत्न समाप्त होने पर इच्छित फल मिल जाय। परन्तु सफलता का इतना ही अर्थ नहीं है। कोई कोई मनुष्य अपना कार्य पूरा करने पर जब अपने विशिष्ट उद्देश की पूर्ति तथा प्राप्ति नहीं कर सकते—जब उन्हें इच्छित फल नहीं मिलता—तब वे अपने को असफल मान लेते हैं। परन्तु सच बात ऐसी नहीं है। संसार में ऐसे बहुत से दृष्टान्त मिलते हैं जिन्हें हम असफलीभूत अथवा "अकृतकार्य सफलता" कह सकते हैं। फिर सफलता है क्या? वह भी एक साधन या उपाय ही है। वह अन्तिम ध्येय की सर्वोच्च सीढ़ी है, परन्तु यह स्वयं अन्तिम ध्येय नहीं है। ऐहिक सुख ऐसे होते हैं जो उचित रीति से प्रयत्न करने पर अवश्य मिल जाया करते हैं। यदि दुर्भाग्यवश किसी कारण से न भी मिलें तो इसके लिए किसी कार्यशील सज्जन का जीवन निष्फल और निरर्थक कभी नहीं माना जा सकता। एक विद्वान् अँगरेज़ कवि कहता है कि—

> If what shone afar so grand
> Turn to nothing in thy hand.

On again, the virtue lies,
in the struggle, net the prize.
R. M. Milnes.

अर्थात् मनुष्य के सद्गुणों का दर्पण उसके कार्यों का दृश्य फल नहीं है, वरन् उसके सद्गुणों का सच्चा दर्पण उसकी अदम्य उत्साहपूर्ण कार्य-शक्ति ही है। क्योंकि स्तुति करने योग्य तो वही मनुष्य हो सकता है जो कंटीले वृक्ष पर स्वयं चढ़कर फल तोड़ सके, नहीं तो बाँस अथवा किसी यन्त्र के द्वारा फल तोड़नेवाले साधारण मनुष्य इस संसार में वहुत से पाये जाते हैं। राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, महात्मा तिलक, महात्मा गांधी आदि के नाम प्रसिद्ध क्यों हैं? इसलिए नहीं कि इन लोगों ने अपने जीवन में कोई नया राज्य स्थापित किया हो, किन्तु केवल इसीलिए कि वे अपने निश्चित उद्देश के अनुसार कंटकमय पथ में चलते हुए कभी भी विचलित नहीं हुए। बस, जो मनुष्य इस तत्त्व का आजन्म पालन करेगा उसीका जीवन सफल है। अतएव विचारशील पुरुषों ने कहा है कि दुर्दमनीय धैर्ययुक्त कार्यशीलता के अन्तिम स्वरूप का ही—चाहे वह कैसा भी हो—नाम सफलता है।

परन्तु यदि हमारा उद्देश ही दोषपूर्ण हो और अन्त में हमें किसी दुःखमय तथा अनिष्टकारक परिणाम का सामना करना पड़े तो इसके दोष के भागी भी हमी हैं। ऐसी दशा में हमारा जीवन सफल नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो शराब पीने से मृत्यु होने पर शराबी मनुष्य का भी जीवन सफल कहा जा सकता। किसी उद्देश को स्थिर करने और कार्य का आरम्भ करने के पहले हमें यह देख लेना उचित है

कि वह उद्देश अच्छा है या बुरा। इसके लिए एक अङ्गरेज़ लेखक हमें यह उपदेश देता है—

See first that the design is wise and just,
That ascertained, pursue it resolutely.
Do not for one repulse forego the purpose,
That you resolved to effect.

अर्थात् किसी काम को करने के पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि वह काम किसी तरह से हानिकारक तो नहीं है। इसके बाद जब यह मालूम हो जाय कि वह कार्य न्यायसङ्गत है, तब उसको पूरा करने के लिए जी तोड़ कर परिश्रम करो, फिर चाहे कितनी और कैसी भी बाधायें आ जावें, उस कार्य को अधूरा मत छोड़ो। कार्य करते समय मनुष्य को इस बात की तनिक भी परवा न करनी चाहिए, कि उसका फल अमुक ही प्रकार का हो, उसका ध्यान केवल इसी बात पर रहना चाहिए कि वह उस कार्य को उत्तम रीति से एक मनुष्य के समान कर रहा है या नहीं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार अथवा ईश्वर की योजना के अनुसार हमें केवल कार्य करने का अधिकार और शक्ति है। हमें यह अधिकार नहीं दिया गया है कि हम अपने कर्म के फलों को अपनी इच्छा के अनुरूप बना लें। इसीलिए भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् का उपदेश है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

यदि प्रत्येक मनुष्य अपने इच्छानुसार कर्म-फल प्राप्त कर सकता तो फिर ऐसे मनुष्य संसार में देखने को भी न मिलते

जो करोड़पति होकर भी अन्त तक पश्चात्ताप में लिप्त रहें, अथवा यह कहिए कि प्रत्येक भिखारी रईस हो जाता। सारांश यह है कि सफलता के यथार्थ स्वरूप पर ध्यान देकर ही प्रत्येक मनुष्य को इस जीवन-संग्राम में अपना अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए।

बहुत से मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने जीवन की सफलता अथवा निष्फलता की कसौटी उनके प्रति जन साधारण की राय को मानते हैं। यदि लोग उन्हें अच्छा कहें तो वे अपने जीवन को सार्थक समझते हैं और बुरा कहें तो निरर्थक कहने लगते हैं। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रिय और पूज्य मालूम हो। देखिए, स्वयं श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण जैसे अवतारी पुरुष भी अपने जीवनकाल में सब लोगों को एक ही से प्रिय और पूज्य न थे। उनकी भी निन्दा करने वाले और शत्रु थे ही। ऐसी अवस्था में आश्चर्य नहीं कि किसी मनुष्य के तत्त्वपूर्ण विचार भी कुछ कमसमझ मनुष्यों को अप्रिय मालूम होने लगें। इस-लिए लोगों की टीका टिप्पणी की विशेष परवा न करनी चाहिए। उचित उपाय तो यही है कि यदि हमें सचमुच सुखी और कृतकार्य बनना है, तो दूसरों के अन्याय-सङ्गत और विरोधी विचारों का उल्लङ्घन करने में तनिक भी सङ्कोच न करना चाहिए। जो मनुष्य सभी लोगों को प्रसन्न करने के प्रयत्न में लगा रहेगा उसकी वही दशा होगी जैसे धोबी के कुत्ते की होती है, जो न घर का होता है न घाट का।

ईश्वर प्रत्येक मनुष्य को कुछ कर्तव्य का भार सौंप कर संसार में भेजता है और उसे उस कार्य को सफलता-

पूर्वक निभा लेने के लिए आवश्यक अधिकार या योग्यता भी देता है। यह समझ निरी भूल-भरी और अत्यन्त हानिकारक है कि कर्तव्य-पालन का अधिकार या योग्यता कुछ विशिष्ट इने गिने लोगों को ही है। प्राय: लोग कहा करते हैं कि 'हम अमुक देश-कार्य या सामाजिक सेवा करना चाहते हैं, पर क्या करें हम में योग्यता नहीं, हमारा अधिकार नहीं।" ऐसे आत्म-विनाशी विचारों से हमारे तरुण विद्यार्थियों को सदा बचे रहना चाहिए। दृढ़ विश्वास रहे कि हम मनुष्य हैं, और मनुष्य के नाते हमको अपने कर्तव्यपालन का तथा अपने जीवन को सुखी करने का पूरा अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य को पहले इस बात का पता लगाना चाहिए कि ईश्वर ने उसे किस काम के लिए उत्पन्न किया है। जब उसे मालूम हो जाय कि वह अमुक कार्य को करने की स्वाभाविक योग्यता रखता है, तब उसे उचित है कि वह एक क्षण का भी विलम्ब न करके उस महत्कार्य को उत्साह से आरम्भ करदे और अपने परम पिता जगन्नियन्ता से प्रार्थना करे कि "हे जगदाधार! तेरी इच्छा के अनुसार ही मैं ने अपनी जीवन नौका को इस संसार समुद्र में छोड़ दिया है। अब मुझे केवल तेरा ही सहारा है।" इतना करने पर वह अपना कर्तव्य करता रहे। फिर ईश्वर भी उसका सच्चा सहायक बन जायगा। अवश्य ही उस मनुष्य का अन्त में बेड़ा पार होगा। केवल धैर्य की आवश्यकता होगी, क्योंकि उसे समय समय पर संसार समुद्र की लहरों और तूफानों का सामना करना पड़ेगा। उस में उस को अनेक नाशकारी चट्टानें मिलेंगी। यदि उसने इन सब बाधाओं को कुशलता और सहनशीलतापूर्वक हटा दिया तो फिर उस का जीवन सफल होगा। ऐसे ही मनुष्य को विजयी कहते हैं। उसीका नाम इतिहास के पृष्ठों

को प्रकाशित करता है और लोग उसी को कर्म-वीर, देशभक्त, परोपकारी कहने में अपना गौरव समझते हैं।

यदि तुम्हारा जीवन-निर्वाह करने का धन्धा दूसरों से तुच्छ गिना जाता हो तो तुम उस को तुच्छ मत मानो। तुम्हारे लिए यही श्रेयस्कर होगा कि उसे तुम समस्त संसार के सभी कामों से बढ़ कर समझो और उसको उसी प्रकार से किया करो जैसे कोई मनुष्य अपने उच्चातिउच्च व्यवसाय को अनुपमेय उत्साह से करता है। तुच्छ या छोटा धन्धा करना कोई लज्जा की बात नहीं है। लज्जा तो भीख मांगने और परतन्त्रता में होनी चाहिए। हाँ यह अवश्य एक लज्जास्पद बात होगी यदि तुम अपने कर्तव्य को स्वयं घृणा और अपमान की दृष्टि से देखोगे। इसके लिए अच्छा दृष्टान्त है। विलायत में मि० ग्रे नाम का एक प्रसिद्ध पुरुष था। बचपन में उसकी साम्पत्तिक और व्यावसायिक स्थिति बहुत ही शोचनीय थी। उसके एक मित्र ने उस से एक दिन हँसी में कहा—"मिस्टर ग्रे! अब तो तुम बहुत बातें करना सीख गये, परन्तु क्या तुम्हें वह बचपन का ज़माना याद है जब कि तुम ढोल बजा बजा कर अपनी जीविका चलाया करते थे?" प्रिय विद्यार्थियो! देखिए, मि० ग्रे ने इसका कैसा भावपूर्ण और उचित उत्तर दिया है! उसने कहा "महाशय! मुझे पूर्णतया स्मरण है कि मैं बचपन में किस तरह से उदर-पोषण किया करता था। मैं जानता हूँ कि मैं ढोल बजाया करता था। परन्तु क्या आप को याद है कि मैं किस उत्तम रीति से तथा प्रफुल्लित हृदय से ढोल बजाया करता था?" तात्पर्य यही है कि छोटापन या बड़ापन, तुच्छता या श्रेष्ठता, किसी

विशेष व्यवसाय में नहीं है, किन्तु अपने हृदय के उस भाव में है जिससे वह व्यवसाय का काम किया जाता है। सलफता के यथार्थ स्वरूप के विषय में उक्त रीति से विचार करने पर पाठकों को झूठी और सच्ची सफलता का भेद आप ही आप मालूम हो जायगा।

अब यह देखना चाहिए कि सफलता के लिए और किन किन गुणों की आवश्यकता है? ऊपर कहा जा चुका है कि सबसे पहले धैर्य की बड़ी आवश्यकता है। साथ ही साथ जो कार्य हाथ में लिया जाय उसमें पूर्ण उत्साह चाहिए, क्योंकि जिस काम में उत्साह नहीं होता है वह बीच में ही छोड़ दिया जाता है। परन्तु धैर्य और उत्साह से भी बढ़कर एक और बड़ा भारी गुण है. जिसके बिना किसी कार्य में मनुष्य को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। उस गुण का नाम है अपनी आत्मशक्ति अर्थात् कार्य करने की योग्यता पर दृढ़ विश्वास। जब तक निश्चयपूर्वक हमें यह दृढ़ विश्वास नहीं रहेगा कि हममें अमुक काम करने की पूरी योग्यता है तथा उसे हम हर हालत में अवश्य कर सकते हैं, तब तक हमारा मन हमें उस काम के करने में योग नहीं देगा और फलतः हम उसको कभी पूरा नहीं कर सकेंगे। हाँ, जो मनुष्य उचित मार्ग का आक्रमण करता हुआ भी किसी कारण-वश सफलता नहीं प्राप्त कर सकता उसका फिर कुछ दोष नहीं है। संसार की अन्धी आँखों में चाहे वह भले ही अकृतकार्य समझा जाय, परन्तु सहृदय जन उसे ऐसा कभी न समझेंगे। किसी पाश्चात्य कवि ने कहा है जिसका अर्थ यह है कि—

जीवन-संग्राम में पराजित अथवा असफल मनुष्य कौन है? क्या आफ़त का मारा, परन्तु दीर्घोद्योगी कोलं-

बस अकृतकार्य कहा जा सकता है ? या लिव्हिंग्स्टन को हम एक पराजित मनुष्य कह सकते हैं कि जिसने जननी जन्मभूमि के हित के लिए अफ्रीका के जङ्गलों में जन्म भर ख़ाक छानी है ? नहीं, ये पराजित नहीं समझे जा सकते, क्योंकि इन्होंने आशारूपी रस्सी के सहारे से बारम्बार गिरने पर भी आकाश में चढ़ने का प्रयत्न किया है। इनका यही व्रत था कि "कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्।" ये तो अपने व्रत-साधन में, अपने प्राणों की आहुति देकर यथार्थ में कृतार्थ और सफल हो गये। असफल और पराजित मनुष्य वही है जिसने गिरने के डर से कभी खड़े होने का प्रयत्न तक नहीं किया। अहा ! क्या ही उत्तम उक्ति है। विचारने की बात है कि जो अपनी इष्ट-सिद्धि को पूर्ण करने के प्रयत्न में लगे रहने पर मर भी जावेगा, वह सच्चा कर्म-वीर धन्य है, या वह आलसी गीदड़ धन्य होगा जो असफलता रूपी राक्षसी का नाम सुनते ही डर जाता है और किसी कार्य का आरम्भ नहीं करता।

सफलता के विषय में ख़रगोश और कछुवे की कहानी पाठकों से छिपी नहीं है। पढ़नेवाले को आश्चर्य होता है कि इतना मन्दगामी कछुआ ऐसे शीघ्रगामी ख़रगोश से दौड़ने में कैसे जीत गया। परन्तु इसी बात को समझाने में हमको सफलता रूपी कुञ्जी मिल सकती है। कहानी बतलानेवाले ने कछुवे को मन्द परन्तु कभी न थकनेवाली महान् शक्ति का स्वरूप माना है और ख़रगोश से उस व्यक्ति का नमूना देख पड़ता है जो अधिक शक्ति होने पर भी किसी कार्य को अहं-भावपूर्वक तुच्छ समझ कर बीच में परित्याग कर देता है। बस, इस छोटी सी कहानी में ही सफलता का पूर्ण तत्त्व

विद्यमान है। इसलिए अपने जीवन को सफल करने की इच्छा रखनेवाले—इस जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति की कामना करनेवाले—प्रत्येक युवक और तरुण विद्यार्थी को उचित है कि वह हज़ार बाधाओं के रहते हुए भी अपनी इष्टसिद्धि के लिए सदा प्रयत्न करता रहे, फिर सफलता उसकी दासी बन कर उसके पैरों तले लोटेगी।

बहुतेरे मनुष्य पहले अपने कार्य को बड़े उत्साह के साथ आरम्भ किया करते हैं, परन्तु थोड़ी भी बाधा आने पर वे उसे छोड़ बैठते हैं। यथार्थ में देखा जाय तो बाधारहित सफलता में कुछ भी स्वाद नहीं रहता। मिठाई खाते खाते आप फिर भी मिठाई खाइए तो आपको उसमें विशेषता या अपूर्व स्वाद नहीं मिलेगा परन्तु यदि कुछ कटु पदार्थ के खाने पर आपको मिठाई दी जायगी तो आपको सचमुच मालूम हो सकेगा कि मिठाई और मीठापन क्या वस्तु है। यही हाल सच्ची सफलता और विघ्न बाधाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का है। जिस मनुष्य को अपने इष्टकार्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करने में विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है वही सफलता के सच्चे मर्म को जान सकता है। जिसने स्वप्न में भी विघ्न-बाधाओं की सूरत नहीं देखी वह सफलता के रहस्य को जान नहीं सकता। एक श्लोक में भर्तृहरि ने कार्य-शीलता और सफलता के विषय में तीन प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है। वह श्लोक यह है—

> प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
> प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
> विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
> प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥१॥

अर्थात् नीच पुरुष विघ्नबाधाओं के भय से कार्य का आरम्भ ही नहीं करते। उनमें इतना साहस ही नहीं होता। जो मध्यम पुरुष हैं वे बड़ी कठिनाई से कार्य का आरम्भ तो कर देते हैं, परन्तु थोड़ा सा धक्का लगने पर वे उस कार्य को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। इन लोगों की गणना उत्तम पुरुषों में नहीं हो सकती। उत्तम पुरुष कहलाने का दावा तो वे ही रखते हैं जो सहस्र वार बाधाओं के आने पर उस कार्य को करने के लिए कोटि वार उद्यत रहें—जो उस कार्य को अन्त तक निभा लें। बस सफलता ऐसे ही सत्पुरुषों के कार्यों को अलंकृत किया करती है—ऐसे ही महात्मा सफल मनोरथ हुआ करते हैं।
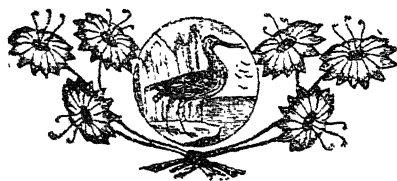
८—योग्यतानुकूल व्यवसाय का चुनना

हर एक मनुष्य के लिए किसी न किसी व्यवसाय, रोज़गार, धंधे अथवा पेशे की आवश्यकता है और अपने लिए बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवसाय चुनने में ही मनुष्य-जीवन का सफल होना न होना अवलम्बित है। ऐसे बहुत ही थोड़े—हज़ारों में एक—मनुष्य होंगे जिन्हें जीवन-निर्वाह के लिए कुछ उद्योग नहीं करना पड़ता अर्थात् जिनके पास आवश्यकता से बहुत ही अधिक सम्पत्ति होती है। परन्तु ऐसे मनुष्यों को भी अपने लिए कुछ न कुछ कार्य चुनने की आवश्यकता पड़ती है। इसका कारण यह है कि ऐसे मनुष्यों को उदरपूर्ति के लिए भले ही कष्ट न उठाना पड़े, परन्तु अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए तथा उसे आलस्य से बचाने के लिए, इच्छा न होने पर भी, कुछ काम करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवन काम करने के लिए ही बनाया गया है, और धनवान् तथा धनहीन कोई भी मनुष्य इससे बच नहीं सकता।

यद्यपि इस बात की सत्यता निर्विवाद सिद्ध है कि संसार के प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ व्यवसाय या कार्य करना ही पड़ेगा, तथापि बहुत से युवकों को इस बात में डर और घृणा होती है। वे अपने माता पिता का पिंड नहीं छोड़ना चाहते और रोटी के प्रश्न को स्वयं हल करने में बेइज़्ज़ती समझते हैं। परन्तु उन्हें भी कभी न कभी, जल्दी

अथवा देरी से, कुछ कार्यारंभ करना ही पड़ता है। इसलिए प्रत्येक युवक का जो संसार में प्रवेश कर के विजय-कामना रखता हो, यह कर्तव्य है कि वह शीघ्र ही इस बात का निश्चय कर ले कि वह अपनी सारी शक्तियों को किस काम में लगावेगा। अनिश्चित अवस्था में रह कर विलम्ब करने और व्यर्थ समय खोने से कुछ भी लाभ न होगा।

बहुत से मनुष्य सुख का अर्थ नहीं समझते। वे कार्य के अभाव को अर्थात् आलस्य के साथ समय बिताने को ही सुख का साधन समझते हैं। यह एक बड़ी भारी भूल है। कहा जाता है कि उद्योगरहित और कार्य-हीन मनुष्यों के मन में शैतान का निवासस्थान रहता है। भारतवर्ष के एक बड़े भारी अधिकारी को यह आज्ञा मिली कि "अब तुम्हारे नौकरी के दिन पूरे हो गये। तुमने ईमानदारी से काम किया है, इसके उपलक्ष्य में तुम्हें पेन्शन मिला करेगी" जब उसे यह आज्ञा मिली तब वह मनुष्य बहुत ही ख़ुश हुआ। ख़ुशी इस बात की थी कि उसे अब काम नहीं करना पड़ेगा और मज़े में दिन काटने का अवसर मिला करेगा। उसने ख़ुशी के आवेश में अपने एक मित्र को यह पत्र लिख भेजा, "अब मैंने दिन दिन भर के झंझटों से छुट्टी पाई। रात दिन काम करने से जी ऊब गया था। अब मुझे दसगुनी तनख़्वाह मिले तो भी मैं काम न करूँगा।" दो चार आठ दिन बीत जाने पर जब उसे बैठे बैठे ख़राब मालूम होने लगा और जब उसने देखा कि काम किये बिना आलस्यपूर्ण जीवन बड़ा ही दुःखदायी होता है, तब उसने फिर अपने उसी मित्र को शोक के साथ लिखा कि "भाई! मैं मूर्खता से यह समझ रहा था कि काम न करने में ही आनन्द है। परन्तु बात बिलकुल

उलटी है। अब मुझे साफ़ साफ़ मालूम हो रहा है कि मेरा पूर्व जीवन बहुत ही उत्तम और सुखपूर्ण था। जितना ही अधिक काम करना पड़ता था उतना ही अधिक सुख मिलता था।" सारांश यह है कि हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहना मनुष्य के देहधर्म के विरुद्ध है। मनुष्य का मन पनचक्की के समान है। जब उसमें गेहूँ डालते जाओगे तब वह गेहूँ को पीस कर आटा बना देगी। परन्तु जब उसमें गेहूँ न डालोगे तब वह स्वयं अपने आपको पीस पीसकर क्षीण बना डालेगी। एक तत्त्वज्ञानी के इस कथन से हम भी पूर्णतया सहमत हैं कि "बहुत कम मनुष्य लोभ के कारण जुआरी या शराबी हुआ करते हैं। उनमें से अधिकांश ऐसे मनुष्य हुआ करते हैं जो कुछ काम न रहने के कारण, केवल समय बिताने के लिए ही, जुआ खेलते या शराब पीते हैं।"

जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि काम न करना अथवा आलस्यपूर्ण जीवन बिता देना देहधर्म के विरुद्ध है, तब हमारा यही कर्तव्य है कि हम कुछ न कुछ अच्छा व्यवसाय अपने लिए पसन्द करें। यह व्यवसाय हमारे मन, इच्छा, कार्यशक्ति और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रतिकूल व्यवसाय करने में सफलता कभी हो नहीं सकता। विचार करने की बात है कि जिस मनुष्य को ईश्वर ने जन्म-सिद्ध चित्रकार बना कर भेजा है, उसे यदि किसी कारण से उसका पिता कहीं विश्वविद्यालय में पढ़ा पढ़ा कर डिगरी दिलाना चाहे तो यह कभी हो सकता है? उधर प्रोफेसर साहब उस छात्र को किताब की बड़ी बड़ी बातें समझावेंगे और इधर वह लड़का प्रोफेसर साहब की भिन्न भिन्न अवस्थाओं और हलचलों का चित्र अपने मनमें खींचता जावेगा।

मनुष्य-जीवन के असफल होने के दो मुख्य कारण हैं—पहला यह है कि वह कभी कभी अपनी स्वाभाविक कार्य-शक्ति के विरुद्ध व्यवसाय में लग जाता है। दूसरा कारण यह है कि मनुष्य व्यवसायकुशल हुए बिना ही अपने कार्य्यों को शुरू कर देता है। परन्तु जब तक कार्यकुशलता और कामचलाऊ अनुभव न हो जाय तब तक सहसा कोई काम शुरू नहीं करना चाहिए। यह सच है कि अनुभव और कुशलता जल्द नहीं आती परन्तु इन्हें दृष्टि के बाहर जाने नहीं देना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि जीवन-संग्राम में मनुष्य अमुक दो कारणों से अकृतकार्य होता है। परन्तु हमारे भारतवर्ष में एक और तीसरा कारण देखा जाता है। इस देश के लिखे पढ़े शिक्षित लोग केवल मानसिक और मौखिक कार्य करना अधिक पसन्द करते हैं। उन लोगों में शारीरिक व्यवसायों से एक प्रकार की घृणा उत्पन्न हो गई है। ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। एक मनुष्य आठ रुपये माहवार में म्युनिसिपल नाके का मुन्शी बन कर कान में कलम दाब रखने में अपनी जीवन की सार्थकता समझता है, परन्तु अन्य शारीरिक कार्य करके अधिक द्रव्य पैदा करने में उसे लज्जा मालूम होती है। भारतवर्ष में बाबू साहिबी की बीमारी दिनोंदिन बढ़ रही है और शोक के साथ कहना पड़ता है कि यदि किसी ने इस मर्ज़ की दवा शीघ्र न निकाली तो यह बीमारी असाध्य हो जायगी। स्मरण रहे कि शारीरिक श्रम करने से और अपनी कर्मेन्द्रियों को किसी उपयोगी कार्य में लगा देने से ही शिक्षित समाज अपने देश के लिए आदर्श हो सकता है। विद्यार्थियों को उचित है कि वे इस बात पर

ध्यान दें और शारीरिक श्रम से घृणा न करें।

ऊपर इस बात की आवश्यकता बतलाई जा चुकी है कि हर एक मनुष्य को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति और कार्यशक्ति क अनुकूल व्यवसाय चुनना चाहिए। अतएव जो मनुष्य संसार में सफलता प्राप्त करना चाहता है उसका पहला कर्तव्य इस बात का ज्ञान प्राप्त करना होगा कि उसकी रुचि किन कार्यों का ओर अधिक है। बहुत से मनुष्य इस बात की कोई आवश्यकता नहीं समझते कि कोई भी युवक अपनी प्रवृत्तियों को जान कर उसके अनुसार काम करे। उनका यह सिद्धान्त है कि हर एक मनुष्य कोई भी कार्य कर सकता है। अपनी प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल परिश्रम करना पड़ेगा। लार्ड चेष्टरफ़ील्ड का भी यही मत था। वे कहा करते थे कि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा कार्यशक्तियों को जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कोई भी युवक केवल परिश्रम से विद्वान्, सुवक्ता, राजनीतिज्ञ, यशस्वी, ख़ूबसूरत, समाजप्रिय इत्यादि सभी कुछ (परन्तु कवि नहीं) बन सकता है। बल्कि वे यहाँ तक कहते थे कि मिहनत करने पर मनुष्य यदि अच्छा कवि न भी बन सके, तो खासा तुकबन्द अवश्य बन सकता है। उनके कथन का सारांश यही है, कि कोई भी मनुष्य कवि, ग्रन्थकार, राजनीतिज्ञ अर्थात् कुछ भी बनाया जा सकता है। अपने इसी सिद्धान्त के अनुसार लार्ड चेष्टरफील्ड ने अपने लड़के स्टैनहाप को जो कि बड़ा सुस्त, कार्य-शिथिल और असावधानतापूर्ण था, एक समयसूचक सत्पुरुष बनाना चाहा। उन्होंने इसके लिए वर्षों तक परिश्रम किया। परन्तु फल वही हुआ जो ऐसी अवस्थाओं में सदैव हुआ करता है।

लड़का उम्र भर ज्यों का त्यों रहा। उसकी योग्यता न बढ़ी इसलिए स्वाभाविक प्रवृत्तियों का जानना परम आवश्यक है, और इसके जानने में कोई कठिनाई भी नहीं है। प्रायः हर एक लड़के की बाल्यावस्था के कार्यों से यह जाना जा सकता है कि वह भविष्य में किस तरह का मनुष्य होगा। जो लड़का कालिदास बनने को पैदा हुआ है वह छोटी उम्र में भी अच्छी कविता कर सकता है। जो भविष्य में शिवाजी बनता है वह बचपन में लड़कों की ही सेना बना बना कर सेनापति का कार्य भी किया करता है। और जो भविष्य में विख्यात अमीरअली ठग बनता है वही लड़का बचपन में पहले पहल 'भुट्टे चुरा कर" अपना पहला पाठ सीखता है। कहने का तात्पर्य यही है कि किसी की बाल्यावस्था के कार्यों और प्रवृत्तियों को देखकर यह सरलतापूर्वक जाना जा सकता है कि यह लड़का आगे चलकर किस प्रकार का मनुष्य होगा।

जब यह मालूम हो जाय कि अमुक लड़के की अच्छी प्रवृत्ति किस ओर है तब सब से आवश्यक कार्य यह रह जाता है कि उसको उसी कार्य में अच्छी शिक्षा मिले। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल योग्य और उदार शिक्षा पाने पर मनुष्य अपने व्यवसाय में थोड़े ही परिश्रम से सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। हाँ, कभी कभी यह भी देखा जाता है कि किसी मनुष्य के भविष्य जीवन का पूर्वप्रतिबिम्ब उसकी बाल्यावस्था में नहीं दीखता। परन्तु ऐसे अपवादात्मक उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं।

जिस तरह इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में एक एक विशेष गुण रहता है उसी तरह प्रत्येक मनुष्य में भी कुछ विशिष्ट कार्य करने की शक्ति अवश्य ही रहती है। यह शक्ति

अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति चाहे किसी विशिष्ट अवस्था अथवा परिस्थिति में न भी मालूम हो सके, परन्तु वह ऐसी दृढ़ और उत्कट होती है कि वह आप ही आप प्रकट हो जाती है। उसे कोई छिपा नहीं सकता।

जब हम अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार कोई व्यवसाय चुन लें तब फिर हमें उसमें हज़ारों बाधाओं के होने पर भी लगे रहना चाहिए। बहुधा युवावस्था में कुछ कष्ट, उदासीनता अथवा अकृतकार्यता होने से युवकगण हताश हो कर अपने इच्छित व्यवसाय को यह समझ कर छोड़ देते हैं कि कदाचित् वे किसी दूसरे व्यवसाय में लग जाने से अधिक सफलीभूत होंगे। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। हमें सर्वदा यही उचित है कि हम जिस धन्धे को अपने लिए एक बार चुन लें फिर उसे कभी न छोड़ें, उसीमें दृढ़तापूर्वक लगे रहें। जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्त करने के लिए अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल व्यवसाय चुनने की जितनी आवश्यकता है उससे बढ़कर उसमें दृढ़तापूर्वक लगे रहने की भी है। कठिनाइयों के उपस्थित होने पर यह विचार करना मूर्खता है कि हम किसी दूसरे व्यवसाय में अधिक सफल हुए होते। जब अपने व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे धन्धों में लगने के लिए जी ललचाता है तब उस दूसरे धन्धे के केवल गुण और लाभ ही दृष्टिगत हुआ करते हैं और अपने धन्धे के केवल दोष और हानि। पर ऐसा होना संभव नहीं है। हम जिस गुलाब को देखेंगे उसी में काँटे मिल सकते हैं। इसलिए अपने एक वार के दृढ़ निश्चित व्यवसाय को बिना समझे बूझे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। नहीं तो लेने के देने पड़ जायँगे और यही हालत होगी कि "खुदा ही मिला न

विसाले सनम। न इधर के हुए न उधर के हुए।" इसलिए हमें किसी व्यवसाय के चुनने अथवा छोड़ने में चञ्चलता और जल्दी नहीं करनी चाहिए। कभी कभी जब मनुष्य अपने व्यवसाय में हज़ार प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं होता तब उसे अपना व्यवसाय बदल कर दूसरा चुनने की आवश्यकता अवश्य होती है। परन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि उसने अपने पूर्व व्यवसाय को चुनने में बड़ी ग़लती की। ऐसी ग़लतियाँ कई कारणों से बुरी संगति, अचानक घटना, माता-पिता की बुद्धिहीनता अथवा अधूरी शिक्षा के कारण बहुधा हुआ करती हैं। परन्तु युवावस्था में मन बहुत चंचल रहता है। किसी काम को ख़ूब सोच समझ कर करना चाहिए। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि अनेक युवक उस कार्य को करते हैं जिसमें वे कभी सफल नहीं हो सकते और कुछ युवक भ्रम-वश अपने उस व्यवसाय को छोड़ बैठते हैं जिसमें थोड़े ही अधिक परिश्रम से वे सफलीभूत हो गये होते। ध्यान रखने की बात है कि जो व्यवसाय किसी भी दृष्टि से जितना ही अधिक अच्छा होगा, उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए उतना ही अधिक समय और परिश्रम भी लगेगा। हाँ, जिस राह से हम जा रहे हैं उस राह में यदि सिंह मिल जाय तो हमारा यह सोचना बिलकुल स्वाभाविक होगा कि उस रास्ते के सिवा संसार के अन्य किसी रास्ते में सिंह आ ही नहीं सकता, परन्तु बिना परिश्रम के कुछ भी नहीं मिल सकता। इसलिए बाधाओं का सामना करते हुए अपने एक बार के चुने हुए व्यवसाय में दृढ़तापूर्वक लगे रहना श्रेयस्कर है। इसी तत्त्व के आधार पर हमारे पूर्वजों ने वर्णाश्रम-धर्म की रचना की है, जिससे समाज के सब

व्यवसाय उचित रीति से हुआ करें। और इसी तत्त्व के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'।

इस लेख को समाप्त करने के पहले विद्यार्थियों को यह बतला देना आवश्यक है कि तुम्हें इच्छा अथवा आवश्यकता के कारण जिस व्यवसाय को करना पड़े उसे तुम घृणा की दृष्टि से मत देखो। बहुत से युवक अपनी योग्यता की डींग हाँके बिना सन्तुष्ट नहीं होते। वे कहा करते हैं कि यदि हम उस व्यवसाय में न होते तो बहुत ही यशस्वी होते। उनका ईश्वर के सामने यही रोना रहता है कि उसने हमको अपनी अपूर्व योग्यता का प्रकाश करने का अवसर ही न दिया। अपने साथियों से सदैव अपनी योग्यता के विषय में व्याख्यान देकर ऐसे युवक कहा करते हैं, कि हमें अपनी योग्यता को बर-बाद करना पड़ रहा है, ग्रहदशा अच्छी नहीं है, साधन और संयोग प्रतिकूल हैं इत्यादि। परन्तु यह युवकों की बड़ी भारी भूल है। इस तरह के प्रलापों के कारण दुनिया उन्हें आत्म-प्रशं-सक समझ कर उनका तिरस्कार करेगी, क्योंकि दुनिया की तो आज तक यही समझ है कि जिसमें थोड़ी बहुत आश्चर्य-जनक योग्यता विद्यमान है वह मनुष्य उसे किसी न किसी तरह से संसार को अवश्य ही दिखा देगा। इसलिए अपने व्यवसाय की तुच्छता की शिकायत करते रहने के बदले उसे उच्च और कुलीन बनाने के प्रयत्न में मनोयोगपूर्वक लगे रहने से अधिक लाभ और ख्याति की सम्भावना है। उस व्यवसाय को तुम अपने किसी पाप का प्रायश्चित्त मत समझो, केवल कर्तव्य समझ कर ही उसके सम्पादन में दत्तचित्त हो जाओ। फिर सफलता दूर नहीं रहेगी।
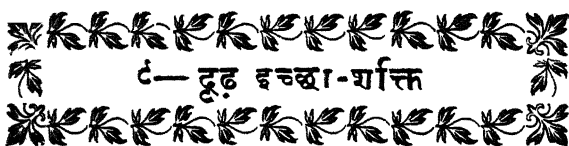
८—दृढ़ इच्छा-शक्ति

अथवा

"जहाँ चाह है वहाँ राह है।"

बहुधा देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य किसी काम को नहीं कर सकता, तब कारण पूछने पर यही उत्तर मिलता है। "भाई! क्या करें उस काम में हमारा जी नहीं लगता! अर्थात् अपने इस कथन से वह मनुष्य इस सिद्धान्त को प्रमाणित करता है, किसी काम को करने में जी न लगने से उसको करने के लिए दृढ़ इच्छा न होने से वह कभी पूरा हो नहीं सकता। और यह बात यथार्थ ही है, क्योंकि जब तक कोई मनुष्य किसी काम को पूर्ण इच्छापूर्वक नहीं करेगा तब तक उसकी सारी शक्तियाँ उस कार्य के सम्पादन के लिए केन्द्रस्थ नहीं हो सकती। अतएव जीवन-संग्राम में कार्य-सम्पादन के लिए दृढ़ इच्छा-शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। इसीलिए कहा भी है कि "जहाँ चाह है वहाँ राह है।" जो काम पहले पहल असम्भव सा प्रतीत होता है वह भी इच्छा-शक्ति के प्रभाव से सुख-साध्य हो जाता है।

हाँ, संसार में कुछ ऐसी बातें अवश्य हैं कि जो विशेष व्यक्तियों के द्वारा ही सफलतापूर्वक की जा सकती हैं, अथवा कभी कभी उनका किया जाना प्रकृति के नियमों की

अज्ञानता के कारण असंभव भी हो जाता है । ऐसी बातों के विषय में दृढ़ इच्छा होने पर भी वे पूर्ण नहीं हो सकतीं । उस समय केवल एक परमात्मा ही का आश्रय लेना पड़ता है । परन्तु प्राय: सर्वसाधारण लोगों के स्वभाव का सूक्ष्म अवलोकन किया जावे तो मालूम होगा कि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में ऐसी ही इच्छायें उत्पन्न हुआ करती हैं जो उसके जीवन में कभी न कभी उद्योग करने से पूर्ण हो सकें। बल्कि यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि हम लोगों में जो इच्छायें उत्पन्न होती हैं वे इस बात की पूर्व सूचनायें हैं कि प्रयत्न करने से हम उनको सफल कर सकते हैं । परन्तु स्मरण रहे कि हमारी सभी इच्छायें सफल नहीं होतीं, इसीलिए दृढ़ इच्छा की अत्यन्त आवश्यकता है। सपत्तिशास्त्र में इच्छा के दो विभाग किये जाते हैं, उनमें से एक को कार्य-क्षम इच्छा कहते हैं । यदि इच्छा कार्यक्षम अर्थात् दृढ़ नहीं तो इस जीवन-संग्राम में मनुष्य का कोई व्यवहार सफल न होगा । हमारा इच्छा-तंतु विघ्नबाधाओं के एक ही झटके में टूट जायगा । दृढ़ इच्छाशक्ति वही है जिसके प्रभाव से हम अपने संकलिपत कार्य को सिद्धि के लिए आत्म-समर्पण कर दें, किसी अड़चन विघ्न या बाधा की परवा न करें, किसी भी कारण से पीछे न लौटें, किन्तु अपने इष्ट-कार्य में तन, मन, धन से सदा प्रयत्न करते रहें ।

इच्छा-शक्ति की दृढ़ता से मनुष्य अद्भुत कार्य कर डालता है। महाराणा प्रतापसिंह की यह इच्छा थी कि "मैं किसी भी दशा में मुसलमानों की आधीनता स्वीकार न करूँगा ।" उनकी यह इच्छा नहीं थी कि "जहाँ तक हो सकेगा, मुसलमानों की अधीनता स्वीकार नहीं करूँगा ।" बस इसी

स्पष्ट और दृढ़ इच्छा के कारण उनकी प्रतिज्ञा पूरी हो सकी। यदि उनकी इच्छा में दृढ़ता के बदले चंचलता होती तो उन पर जो अनेक विपत्तियों के तथा संकटों के पर्वत टूट पड़े थे उनसे वे दब जाते और किसी साधारण मनुष्य की आधीनता स्वीकर करने की कौन कहे, पैर दबाना तक क़बूल करने के लिए बाध्य होना पड़ता ! दूसरा ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए। तानाजी मालसुरे नाम का शिवाजी का एक सूर सरदार था। उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि सिंहगढ़ का क़िला सर कर लेंगे। परन्तु वह उदयभान क़िलेदार के वार से ज़खमी होगया तब उसके साथियों का मन चंचल होने लगा। वे जिस डोरी के बल पर क़िले पर चढ़ आये थे उसी से नीचे उतरने की इच्छा करने लगे। उस समय तानाजी के भाई सूर्याजी ने उन लोगों में दृढ़ इच्छाशक्ति जागृत करने के लिए उस डोरी को काट डाला! बस फिर क्या था, उन सब लोगों ने दृढ़ इच्छा कर ली कि क़िले के नीचे कूद कर आत्महत्या करने की अपेक्षा शूरता से लड़ कर रणभूमि में प्राणत्याग करना ही अधिक श्रेयस्कर है। इस दृढ़ इच्छा के कारण उन लोगों ने जो घोर संग्राम किया वह अपूर्व था। क़िला हस्तगत हुआ और तानाजी की प्रतिज्ञा सफल हुई। हमारे एक सहाध्यायी विद्यार्थी के जीवन की एक बात, इस विषय में बहुत शिक्षाप्रद है। विद्यालय में शिक्षा पाते समय ही उसने अपने मन में दृढ़ इच्छा कर ली कि "मैं इसी विद्यालय में प्रिंसिपल होऊँगा।" उसने अपने कमरे में दीवाल पर P यह अक्षर लिख रखा था और सदैव अपनी इच्छा को उसके द्वारा जागृत रखने का प्रयत्न किया करता था। उसके किसी सहाध्यायी को इसका भेद मालूम न था। इसलिए सब विद्यार्थी

उसे मिस्टर पी कह कर पुकारते थे। जब विद्याभ्यास पूरा हुआ और उसके अनेक गुणों पर लुब्ध होकर विद्यालय के अधिकारियों ने मिस्टर पी को प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त किया, तब उसने विद्यार्थियों से कहा कि "अब मेरे P अक्षर का अर्थ तुम्हारी समझ में अवश्य आ गया होगा!" प्रबल इच्छाशक्ति और दृढ़ संकल्प के सामर्थ्य से मनुष्य क्या नहीं कर सकेगा? इस विद्यार्थी के जीवनचरित से हमें बहुत लाभ दायक शिक्षा मिली है। यह विद्यार्थी आरम्भ ही से दरिद्री था। परन्तु जब उसने यह निश्चय किया कि मैं अपने विद्यालय में प्रिंसिपल होऊँगा, तब उसने अपनी इच्छा को इस बात से हताश नहीं होने दिया कि 'मुझसे अधिक बुद्धिमान् और मुझसे अधिक श्रीमान् लड़के इस विद्यालय में पढ़ रहे हैं—मैं इन लोगों की बराबरी कैसे कर सकूँगा, मैं इन लोगों के साथ कैसे स्पर्धा करूँ—यदि और कोई महानुभाव मेरी सहायता न करेगा तो इस उच्च पद को प्राप्त कर लेना मेरे लिए असम्भव है!' यदि ऐसे विचार उसके मन में आते—यदि पराजित होने के पहले ही वह अपनी हिम्मत हार जाता—तो कहना चाहिए कि यही उसकी सामर्थ्य-हीनता का और मानसिक चंचलता का द्योतक हो गया होता। स्मरण रहे कि यही सब यश और अपयश की कुञ्जी है। पहले ही से उसने अपने मन में विश्वास कर लिया था कि मेरी इच्छा के अनुसार मुझे प्रिंसिपल का पद अवश्य मिलेहीगा, और इसी एक दृढ़ इच्छा को सफल करने के लिए उसने अपना सारा तन मन अर्पण कर दिया था, तथा अपनी इस इच्छा को—महत्त्वाकांक्षा को—प्रतिज्ञा को—सदैव जागृत रखने के लिए उसने अपने नेत्रों के सामने P अक्षर लिख रक्खा था!

उदाहरणों के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। हाल ही का उदाहरण लीजिए। पाठकों को दक्षिण-अफ्रीका के संयोगान्त दृश्य का विस्मरण नहीं हुआ होगा। कर्मवीर गांधी की विजय-प्राप्ति का कारण क्या है? उनके असहाय और दीन अनुयायियों ने किस जादू की विद्या द्वारा उनका साथ दिया? यदि इन सब लोगों में अन्यायोच्छेदन तथा सत्याग्रह की दृढ़ इच्छा न होती, तो क्या यह कार्य संभव था कि ये लोग पानी में रहकर मगर के साथ विरोध करते और विजयी हो जाते? प्रबल इच्छा-शक्ति का प्रमाण कुछ ऐसा ही विलक्षण है।

कुछ मनुष्यों के जीवन संग्राम में जो असफलता दीख पड़ती है उसके अनेक कारण हैं। उनमें से प्रधान कारण विद्यार्थी-अवस्था में इच्छा-शक्ति का कमज़ोर और निर्बल होना ही है। सैकड़ों हज़ारों व्यक्तियों की अवनति का, हार या पराजय का, अपकीर्ति या अस्फलता का मुख्य कारण यही है, कि जब वे विद्यार्थी दशा में रहते हैं तब उनके मन में जीवन के उद्देश या कर्तव्य के विषय में कोई निश्चित विचार नहीं होता, और न वे कभी इस निश्चय से प्रेरित होते हैं कि हमें अपने जीवन में अमुक एक इच्छा को सफल कर लेना है। इस इच्छा की सफलता के लिए सारे जीवन में जो घनघोर संग्राम करना होगा उसमें विजय-प्राप्ति होनी ही चाहिए। जिस प्रकार का और जितना यश प्राप्त कर लेना हो, उस प्रकार का और उतना परिश्रम करने के लिए वे तैयार नहीं रहते। सदाचरण से बर्ताव करके शिक्षा-प्राप्ति के लिए वर्षों तक कठिन अभ्यास और मनोनिग्रह करने में वे अप्रसन्न रहा करते हैं। क्षणिक और तात्कालिक सुखोपभोगों

को त्याग कर, भविष्य में श्रेष्ठ कार्य की सिद्धि के लिए, वर्तमान संकटों और विपत्तियों को सहने की उनकी इच्छा नहीं होती। उनके मन में यह इच्छा ही नहीं होती, कि हम अपने अवकाश का उपयोग आत्म-शिक्षा और आत्मोन्नति में करें तथा अपने वर्तमान सामर्थ्य की उचित वृद्धि करके भावी जीवन-संग्राम में सफल होने की सब तैयारियाँ कर लें! जहाँ न तो संकल्प है, न इच्छा है न संकल्प-बल है और न इच्छा-शक्ति है, जहाँ किसी प्रकार का प्रयत्न ही नहीं, जहाँ शारीरिक श्रम करने से घृणा है, जहाँ मनोनिग्रह का अभाव है और जहाँ आत्मोन्नति का कोई स्पष्ट भाव जागृत नहीं, वहाँ यही कहना चाहिए कि यह न मनुष्य-जीवन है और न जीवन-संग्राम—तप, प्रगति, उन्नति, सफलता और विजय-प्राप्ति की बातें तो बहुत दूर रह गईं! इन सब बातों की आशा करना मृग-जल के समान व्यर्थ है। सात्त्विक इच्छाओं का अभाव—सात्त्विक कार्यों का अभाव—किसी प्रकार क्षम्य नहीं माना जा सकता। चाहे इच्छा निर्बल ही क्यों न हो, परन्तु आरम्भ में उसी की आवश्यकता है। माना कि निर्बल इच्छा-शक्ति का लक्षण है कि मनुष्य किसी काम को पहले बड़े उत्साह और आवेश के साथ करने लगता है, और यदि थोड़ी सी भी बाधा की आशंका हो जाय तो उसके कार्यसूत्र का क्रम एकदम शिथिल हो जाता है। यह भी माना कि दृढ़ इच्छा-शक्ति का लक्षण है कि किसी कार्य के हानि-लाभ का विचार करके जब कोई मनुष्य उसमें लग जाता है, तब उसकी उपयोगिता पर ध्यान देकर उसको अपना पवित्रधर्म एवं कर्तव्य समझ कर उससे वह कभी पराङ्मुख नहीं होता, वरन् उसके साधन में वह इतना तल्लीन, तत्पर और दृढ़चित्त हो जाता है कि 'कार्य

साधयामि वा शरीरं पातयामि'। यही उसके जीवन-संग्राम का एकमात्र सिद्धान्त बन जाता है। परन्तु जिसमें न निर्बल इच्छा है और न सबल इच्छा, अर्थात् जिनमें अपने जीवन के उद्देश के विषय में कोई सदिच्छा ही नहीं है, उनके लिए क्या कहा जाय ?

भर्तृहरि ने बहुत ठीक कहा है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥

यदि जीवन-संग्राम में कुछ सफलता प्राप्त करने की इच्छा हो, तो इस इच्छा को दृढ़ करना चाहिए, क्योंकि जहाँ चाह है वहीं राह है। जब इच्छा-शक्ति दृढ़ हो जायगी तब एक बार आरम्भ किया हुआ कार्य कभी छूट नहीं सकेगा। तब प्रतिकूल परिस्थित का या विघ्नबाधाओं का कोई भय नहीं रहेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि संसार के अधिकांश सच्चे कार्य-कर्त्ताओं को प्रतिकूल परिस्थिति में रह कर और विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए ही अपने उद्दिष्ट हेतु के लिए रास्ता साफ़ करना पड़ा है। परन्तु ये लोग अपनी छोटी मोटी असफ़लताओं से कभी हताश नहीं हुए। इन्होंने अपनी असफलताओं से, जीवन-संग्राम की तैयारी के लिए अच्छा उपदेश लिया और बुराई से भी भलाई को ढूंढकर अपने उद्देश की पूर्ति की है। जो मनुष्य किसी कार्य को पूरा करने के लिए कृत्रिम और मानवी प्रयत्न करता है उसकी बात छोड़ दीजिए। जिसमें अपने कार्य-साधन की जन्म-सिद्ध, स्वाभा-

विक तथा साधारण दैवी शक्ति हुआ करती है, वह भी बहुधा अपने काम के पहले पहल सन्तोषदायक तथा समुचित रीति से नहीं कर सकता। किसी कार्य की सफलता के लिए दृढ़ इच्छा-शक्ति के साथ साथ और भी कारणों की आवश्यकता हुआ करती है, जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

यदि इन सब कारणों पर उचित ध्यान न दिया जायगा, तो सम्भव है कि किसी आरम्भित कार्य में फल प्राप्त न हो परन्तु जब दृढ़ इच्छा-शक्ति होती है तब इन कारणों का ज्ञान भी आप ही आप हो जाता है। और जब इतना कर चुकने पर भी दैववशात् किसी कार्य में असफलता हो जाय तब हमें यही उपदेश लेना चाहिए कि "बड़ाई और बहादुरी कभी भी न गिरने में नहीं है, बल्कि वह इस बात में है कि हम जितनी बार गिरें उतनी बार उठ कर फिर भी अपने उद्दिष्ट कार्य में लग जाँय।" जिस युवक को सांसारिक कार्य-व्यवहारों के लिए अनेक अनुकूल साधन तथा सम्पत्ति के भंडार अनायास मिल जाते हैं, उसी को बहुतेरे लोग जगत् की प्रचलित रीति के अनुसार भाग्यवान् कहा करते हैं। परन्तु हम तो इसे उस युवक का केवल कुभाग्य ही कहेंगे, क्योंकि न तो उसे विद्याप्राप्ति के लिए कष्ट उठाना पड़ता है और न धन तथा यश—प्राप्ति के लिए स्वयं प्रयत्न करने की इच्छा होती है। केवल स्वार्थ के अधीन हो वह सुखचैन से अपनी जीवन-यात्रा कर सकता है, मनोरञ्जन की सामग्री भी उसके पास हमेशा मौजूद रहती है। अन्नवस्त्र का प्रश्न तो उसके मन में कभी उत्पन्न ही नहीं होता। सारांश, जीवन के सभी विषय-

सुखों का रसास्वादन करने के लिए उसके पास अनुकूल साधन रहते हैं। फल यही होता है कि उसकी महत्त्वाकांक्षायें और सदिच्छायें प्रायः लुप्त और नष्ट हो जाती हैं और ऐसी दशा में यह भी देखा गया है कि उसका सारा जीवन स्वयं उसके ही लिए भारस्वरूप हो जाया करता है। तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन-संग्राम में जिन कर्मवीरों ने कुछ विजय प्राप्त की है, उनके चित्र-पटों को देखने से यही सिद्धान्त होता है, कि दृढ़ इच्छा-शक्ति के साथ साथ जिन अन्य कारणों की आवश्यकता होती है, उनका अनुभवपूर्ण तथा व्यावहारिक ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक हम इस संसार की समरभूमि में प्रवेश करके अपने अपने कर्तव्यक्षेत्र में कूद न पड़ें। केवल मानसिक इच्छा से कोई विशेष लाभ नहीं।

हम जानते हैं कि "कठिनाइयों को गले से लगाने का" और "प्रतिकूल परिस्थिति में भी काम करते रहने का" उपदेश देना बहुत सहज है, परन्तु इसके अनुसार बर्ताव करना बहुत कठिन है। तथापि, हम देखते हैं कि जो लोग अपने जीवन के कार्य-क्रम का निश्चय पहले ही कर लेते हैं किसी उद्दिष्ट हेतु की सिद्धि के लिए दृढ़ इच्छा कर लेते हैं और यदि विश्वास भी कर लेते हैं कि सफलता अवश्य होगी, वे लोग तुरन्त ही अपने इष्ट कार्य में लग जाते हैं. समुचित प्रयत्न करते हैं, कोई बात उठा नहीं रखते, अपने निश्चित ध्येय के अतिरिक्त और किसी बात की ओर ध्यान नहीं देते, चाहे जितने संकट क्यों न आ जावें कुछ परवा नहीं करते और अन्त में सारी प्रतिकूलताओं को बदल डालते हैं। इस पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यदि अपने जीवन का कार्यक्रम निश्चित हो तो दृढ़ इच्छा-शक्ति से सफलता प्राप्त

कर लेना कोई कठिन बात नहीं है। परन्तु यदि कोई मनुष्य धनहीन हो तो उसे औरों की दृष्टि में ग़रीब समझा जाना अच्छा नहीं लगता! वह अपनी उन्नति के लिए औरों की राय से काम करता है। इस मानसिक पराधीनता से किसी की इच्छा-शक्ति बढ़ नहीं सकती और न किसी की उन्नति हो सकती है। जब हमारे कुछ युवकों को रेशमी छाते और रोगनदार जूते के बिना चैन नहीं पड़ती, जब उनके साथी उन्हें फ़ैशनेब्ल जन्टलमैन नहीं कहते, तब वे अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए अद्भुत उपाय रचा करते हैं। कोई कोई तो अपने बाप दादाओं की जायदाद का बटवारा कर डालते हैं और कोई एक लाख रुपयों (वाली स्त्री) से शादी करने के लिए फ़क़ीरों के पास मिन्नतें मनाया करते हैं। स्मरण रहे कि ऐसे निर्बल हृदयों को सिर ऊँचा उठाकर यह कहने का हक़ नहीं है कि हमने अपना रास्ता आप ही साफ़ किया है। हाँ, वे गुब्बारे या बेलून अवश्य कहे जा सकते हैं जो दूसरों की, हवा की, सहायता से ऊपर उठा करते हैं।

कुछ लोग इस बात को नहीं मानते कि मनुष्य का भविष्य तथा उसकी उन्नति उसी के कार्यों पर निभर रहती है। वे सभी सांसारिक सफलताओं को एक ही जादू के शब्द द्वारा समझा करते हैं। वह शब्द क्या है? क़िसमत। परन्तु यह बात तो तभी ठीक कही जा सकती है कि जब संसार के भी मनुष्य चारपाई पर हाथ पर हाथ धरकर लेटे रहें और संसार का सब काम अच्छी तरह होता चला जाय। क़िसमत की बात तो छोड़ ही दीजिए, परन्तु जिस मनुष्य में ईश्वर-दत्त कुछ स्वाभाविक प्रतिभा होती है वह भी कठिन परिश्रम किये बिना किसी काम में सफल नहीं हो सकता।

कुछ मनुष्यों की इच्छाओं में इस कारण से दृढ़ता हो नहीं पाती, कि उनका उद्देश शीघ्र और थोड़े ही प्रयत्न से पूर्ण नहीं होता, अथवा उनके कार्य का समाप्त होना अनेक छोटे छोटे उप-कर्मों के समाप्त किये जाने पर निर्भर होता है। ऐसे मनुष्य कदाचित् यह चाहते हों कि तुलसीकृत रामायण सरीखे काव्य-ग्रन्थ अथवा लंदन जैसा शहर घण्टे दो घण्टे के प्रयत्न से ही बन जाय ! विचार करने की बात है कि छोटे छोटे कार्यों के सम्पादन में जब हमें कई मास लग जाते हैं, तब बड़े कार्यों के लिए यदि समस्त जीवन भी व्यतीत कर दिया जाय तो क्या आश्चर्य है । बल्कि पुनर्जन्मवादी तो इस से भी आगे बढ़ गये हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य जब अपना उद्देश एक ही जन्म में पूरा नहीं कर सकता और जब मृत्यु-काल में भी उसे उस कार्य को पूर्ण करने ही की सूझती है, तब वह पूर्वजन्म संस्कार के कारण उसी उद्देश को पूर्ण करने के लिए दूसरा जन्म लेता है। इस तरह, अनेक जन्म जन्मान्तरों के लगातार, धैर्ययुक्त और अटूट उद्योग के कारण कभी न कभी सिद्धि अर्थात् सफलता मिल ही जाती है। पुनर्जन्मवाद के उक्त सिद्धान्त पर सब पाठकों का विश्वास हो अथवा न हो, परन्तु उससे इतना तो अवश्य प्रकट होता है कि किसी उच्च कार्य की पूर्ति के लिए वर्षों लगातार प्रयत्न करते रहने की अत्यन्त आवश्यकता है। जो मनुष्य अपने जीवन के उद्देश को सफल करने की इच्छा से प्रेरित होकर सदैव प्रयत्न करता है फिर चाहे कैसे ही संकट उपस्थित हों और चाहे जितना समय लग जावे। और जिस मनुष्य ने अपने जीवन के कार्य-क्रम के विषय में कुछ विचार ही नहीं किया है, जिसके मन में कोई महत्त्वाकांक्षा ही नहीं

हैं, और जो किसी प्राकर का प्रयत्न भी नहीं करता, उन दोनों मनुष्य के जीवन-संग्राम में ज़मीन-आस्मान का अन्तर हो जाता है। पहले प्रकार के मनुष्य को जोवन सचमुच सफल हो जाता है और दूसरे प्रकार के मनुष्य की दशा ठीक उस लकड़ी के टुकड़े के समान हो जाती है जो नदी की बाढ़ में जल के प्रवाह से इधर उधर टकराती हुई किसो चट्टान पर गिर कर चूर चूर हो जाती है।

बड़े बड़े लोक-नायकों, कवियों, राजनीतिज्ञों और संसार के सभी अगुवाओं की सफलता का रहस्य क्या है? उनकी दृढ़ इच्छाजन्य सतत प्रयत्न-शक्ति। यदि कोइ यह शङ्का करे कि लगातार प्रयत्न करते रहने से सफलता मिल ही जाती है—दृढ़ इच्छा-शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु इसके लिए हमारा केवल यही निवेदन है कि दृढ़ इच्छा ही सतत प्रयत्न शक्ति की जननी है। जब तक हम किसी कार्य में लाभ नहीं देखेंगे तब तक उसे करने की हमारी इच्छा ही न होगी, और इच्छा उत्पन्न होने पर भी बिना दृढ़ता के हम सम्भवत: उस कार्य को अधूरा ही छोड़ दें। विशेष कर मानसिक गुणों का विकास तथा चरित्र-गठन आदि महाकार्य समस्त जीवन भर प्रयत्न किये बिना हो नहीं सकते। अतएव दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ धैर्य का होना भी नितान्त आवश्यक हैं जिस इच्छा में धैर्य नहीं उसे राक्षसी इच्छाशक्ति कहते हैं। क्योंकि वह सदैव अमानवी कार्य करने के लिए तत्पर रहती है। मीठे फल जल्द कभी नहीं पकते। हमें एक महात्मा के इस कथन को सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि "समयोचित कार्य करते रहने पर भी उद्देश पूर्ति के लिए धैर्य से बाट जोहते रहना ही सफलता की कुञ्जी है।"

दृढ़ इच्छाशक्ति और धैर्य के साथ सफलता के लिए एक बात की और आवश्यकता है। बाधाओं से डरने से इच्छा कभी पूरी नहीं होगी। जो मनुष्य सदा यही शिकायत करता रहेगा कि अमुक स्थान को जाने के लिए इस मार्ग में कङ्कर और उस मार्ग में काँटे और तीसरे मार्ग में पहाड़ और चौथे में सिंह अथवा चोर-डाकू हैं, उससे, सिवा घर में बैठ रहने के कुछ भी न हो सकेगा। वह मनुष्य सबके पास जा जाकर यही रोता रहेगा कि कठिनाइयाँ बहुत हैं, काम करना असम्भव है, इत्यादि। स्मरण रहे कि इस तरह से हमेशा रोते और शिकायत करते रहने से काम कभी पूरा नहीं होगा। बल्कि यह कहना चाहिए कि कोई मनुष्य जब किसी कार्य को आनन्द के साथ जी लगाकर नहीं कर रहा है तब उसके करने की हार्दिक इच्छा ही उसमें नहीं है। बहुतेरे मनुष्यों में यह बुरी आदत होती है कि कठिनाइयों की सूचना मिलते ही वे अपने व्यवसाय को छोड़ देते हैं और किसी दूसरे व्यवसाय में लग जाते हैं, उनका समस्त जीवन नित्य नये कामों के करने में बीत जाता है और अन्त में उन्हें एक भी काम समुचित रीति से पूरा करना नहीं आता। इसलिए हमें यही उचित है कि हम अपने जीवन का एक ही लक्ष्य बना लें और उसकी पूर्ति के लिए हम जब जब एक छोटे से छोटा अथवा बड़े से बड़ा कार्य करें तब तब उसे सच्चे दिल से ख़ुशी के साथ किया करें। जब तक मनुष्य अपने व्यवसाय की कठिनाइयों के विषय में शिकायतें करता रहेगा, जब तक उसे उसमें उत्साह और आशा नहीं होगी, तब तक उसकी इष्टसिद्धि कभी न होगी।

लोगों में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "जहाँ चाह है वहाँ राह है।" इस कहावत में एक बड़ा भारी सिद्धान्त अति सुगम रीति से समझाया गया है। पहिली बात तो यह है कि किसी मनुष्य को कोई वस्तु प्राप्त करने की चाह या इच्छा उसकी हैसियत और अवस्था की सम्भावना के अनुकूल ही हुआ करती है, प्रतिकूल नहीं। इसके साथ ही दूसरी बात यह है कि उसको पूरा करने के लिए उपाय करना भी उसी के अधीन रहता है। यदि दृढ़ इच्छा होगी तो वह उसकी पूर्ति के लिए अपना जीवन बिता देगा। विलायत में टामस कार्लाइल नामक एक बड़ा भारी ग्रन्थकार हो गया है, जिसने "फ्रेञ्च रिवोल्यूशन" नाम की एक बड़ी उपयोगी पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक के प्रथम भाग को समाप्त कर उसने उसे अपने मित्र को पढ़ने और अपनी राय ज़ाहिर करने के लिए दिया। उसके मित्र ने पुस्तक तो पढ़ ली, परन्तु उसको लापरवाही से अपनी बैठक में डाल दिया। उसकी लौंडी जब बैठक में आई तब उस पुस्तक को रद्दी काग़ज़ों का गट्ठा समझ कर उसे ले गई और उसी से उसने भोजन बनाया। यह बात कार्लाइल को मालूम हो गई। परन्तु केवल उत्साहपूर्ण दृढ़-इच्छा के कारण उसने फिर भी उसी पुस्तक को अपनी स्मरणशक्ति की सहायता से लिखा और वह पुस्तक आज संसार के बहुमूल्य पुस्तकों में से एक गिनी जाती है। धैर्य का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

जब हम किसी मनुष्य को विशेषगुण शक्ति-संपन्न देखते हैं तब कदाचित जी में यही भावना होती है कि इनके सब कार्य अपवादस्वरूप हैं। कोई भी अन्य मनुष्य कैसा भी परिश्रम करके इनके समान कार्य नहीं कर सकता। परन्तु यदि

महापुरुषों के जीवन-चरित्रों और जन्मभर के कार्य्यों का बारीकी से निरीक्षण किया जाय तो बिना किसी अपवाद के हर हालत में यही मालूम होता है कि उनके महत्कार्य्यों और आश्चर्यजनक सफलताओं का कारण उनका जन्मसिद्ध गुण तथा कार्यकारिणी शक्ति उतनी नहीं है जितनी कि उनकी धैर्ययुक्त दीर्घोद्योग-शक्ति है। उन्होंने डङ्का पीटे बिना जन्म भर एकान्त में कठिन से कठिन परिश्रम किया है और उनके परि-श्रम के फल को बुढ़ापे में प्रकाशित होते देखकर लोगों को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी है क्योंकि साधारण लोग उनके जन्म भर के परिश्रम और पूर्व तैयारी को जानते अथवा देखते नहीं हैं, केवल उनके परिश्रम के अन्तिम परिणाम को ही देख पाते हैं।

संसार में जितने महापुरुष, कवि, ग्रन्थकार, राजनीतिज्ञ, चित्रकार, संगीतकलाविशारद, सम्पादक, आविष्कारकर्ता इत्यादि हो गये हैं उनमें से ऐसा कोई भी नहीं है जिसकी इष्टसिद्धि एक ही छलाँग में पूरी हो गई हो। सबको उसके लिए पहले बाल्यावस्था से ही तैयारी करनी पड़ी है। इसी कारण वे अपने अपने जीवन के महत्कार्य्यों को पूरा कर सके हैं। इतिहास में इनकी कठिनाइयों और विपत्तियों का वर्णन पढ़ने से कलेजा दहल जाता है और इन लोगों की योग्यता और कार्यशीलता की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। अस्तु अब हम इस लेख को एक अँगरेज़ी कवि के इस उपदेश के साथ समाप्त करते हैं—

"Be firm, one constant element of luck.
Is genuine, solid, old. Teutonic pluck.

Stick to your aim the mongrel's hold will slip. But only crowbars loose the bull-dog's grip, Small though he looks the jaw that never yields' Drags down the bellowing monarch of the fields !

और यह आशा करते हैं कि जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति के लिए हमारे प्यारे विद्यार्थीगण अभी से तैयारी करने लग जायंगे। वे लोग अभी से इस बात का निश्चय कर लेंगे कि उसके जीवन का उद्देश या प्रधान कर्तव्य क्या है, और इसी की सफलता के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति तथा धैर्य से प्रयत्न करते हुए संकटों तथा विघ्न-बाधाओं से पार होकर अन्त में विजय प्राप्त कर लेंगे। परमात्मा की कृपा से आपका संकल्पित कार्य अवश्य सिद्ध होगा।

१०-सम्भाषण-कुशलता

हीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् । भर्तृहरिः ।

संसार में मनुष्य को आनन्द देनेवाली जितनी सामग्री हैं उनमें से परस्पर आलाप, सम्भाषण अथवा बातचीत भी एक है। यह निरा आनन्द-दायक ही नहीं है, बल्कि इससे हमें अपनी बुद्धि को अधिकाधिक विकसित करने का तथा अपनी संकीर्ण-हृदयता को दूर करने का अच्छा अवसर मिलता है। इस मानवी जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति करने के अन्य गुणों के साथ सम्भाषण-कुशलता का होना भी आवश्यक है। सम्भाषण करते समय मनुष्य का असली हृदय-भाव शब्दों से और उसकी हलचलों या चेहरे से अवश्य ही प्रकाशित होजाता है जिससे अन्य मनुष्य इस बात को सरलतापूर्वक समझ सकते हैं कि वह मनुष्य किस आचार विचार का है। सम्भाषण अथवा परस्पर बातचीत वह कुञ्जी है जो हृदय के ख़ज़ाने को खोलकर समाज के सामने परीक्षा के लिए रख देती है। इसलिए हमारे पूर्वजों ने नीति का उपदेश देते समय मूर्खों को यही शिक्षा दी है कि "तुम बुद्धिमानों के सामने चुप रहो, बोलो मत, नहीं तो तुम्हारी मूर्खता प्रकट हो जायगी।" विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।" तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य समुचित रीति से सम्भाषण-कुशल हो जाता है

वह अपने दूसरों के बड़े बड़े हितकर कार्यों को बात की बात में कर सकता है और हंसते खेलते हुए दूसरों को स्थायी शिक्षा दे सकता है।

परन्तु जब हम देखते हैं कि हमने अपनी सम्भाषण-शक्ति को कहाँ तक पुष्ट और सुयोग्य बनाने का प्रयत्न किया है तब हमें अपनी मूर्खता और कर्त्तव्य-पराङ्मुखता पर हँसी आती है। होश के साथ बात चीत करना तो दूर रहा हम कभी कभी आम कहने की इच्छा रखकर नीम बक जाते हैं और सुननेवाला उस नीम के कड़वेपन से ऊब जाता है। जिस मनुष्य को यह बात अच्छी तरह से मालूम है कि किस मौक़े पर किस मनुष्य के साथ कैसी बातचीत करनी चाहिए उसके पास एक बड़ा भारी अस्त्र है। यह उस अस्त्र की सहायता से स्वार्थ और परार्थ साधन करके थोड़े ही परिश्रम से समाज-प्रिय हो सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि परस्पर सम्भाषण शिक्षा प्राप्त करने का और शिक्षा प्रदान करने का एक बड़ा भारी सुगम साधन है। इस लिए हमें यह अवश्य जान लेना चाहिए कि बात चीत करते समय हमें किन-किन दुर्गुणों से बचना चाहिए।

पहला दुर्गुण, जो बात चीत करते समय बहुत से मनुष्यों में देखा जाता है, "जी हाँ, जी हाँ" का है। ऐसे मनुष्यों के सामने चाहे कुछ भी कहा जाय, ये "नहीं" कहना नहीं जानते, इनकी जीभ क्या है मानो एक खेत है जहाँ "जी हाँ, जी हाँ" नामक घास मनमानी उगी हुई है और जिसे ये बात बात में काट काट कर दूर फेंका करते हैं। इनके सामने आप असम्भव से भी असम्भव बातें करते जाइये परन्तु इनका सिर जब हिलेगा तब

केवल आकाश से रवाना होकर पाताल में ही ठहरेगा । ये पाँच पाँच मिनट में परस्पर विरुद्ध बातों की हामी भरते जावेंगे और तुम्हें बादल फोड़कर पानी बरसाने वाले, बाँस को ढूंढ़ कर दे देने का बचन दे देंगे ।

पहले दुर्गुण के समान विनाशकारी एक दूसरा दुर्गुण है, जो पहले दुर्गुण के ठीक विरुद्ध है । किसी किसी मनुष्य का हर एक बात को "नहीं" कहने और उसका प्रतिरोध करने का स्वभाव सा हो जाता है परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि हम हर एक बात का जिस तरह से ठीक ठीक और तर्कसम्मत वर्णन पुस्तकों में पाते हैं वैसा हम किसी मनुष्य की ज़बान से बातचीत के समय नहीं पा सकते । सम्भाषण में मनुष्य को अपने विचार जल्दी जल्दी प्रकट करने पड़ते हैं इसलिए बहुत सम्भव है कि वह कुछ बीच के तारतम्य को भूल जाय । अतएव दूसरों की भाषण-त्रुटियों को तीव्र दृष्टि से नहीं देखना चाहिए क्योंकि सर्वाङ्गपूर्ण भाषण करना हर एक मनुष्य से सम्भव नहीं है ।

तीसरा दुर्गुण यह है कि संसार के अधिकांश मनुष्यों के जो विचार प्राय: सदैव रहा करते हैं उनके विरुद्ध अपने विचारों को चलाने का सतत प्रयत्न किया जावे । ऐसे मनुष्य बहुधा ज़िद्दी या हठी हुआ करते हैं । जिस बात को ये कभी नहीं समझ सकते उसमें भी ये पूरा अधिकार जमाना चाहते हैं । किसी विषय में अधिकांश विचारशील मनुष्यों की चाहे कुछ भी राय हो परन्तु इनकी खिचड़ी अलग ही पका करती है । ये अधिकांश में नहीं, बल्कि न्यूनांश में रहना पसन्द करते हैं । संसार जिसको अवगुण समझता है उसे ये सद्-गुण कहा करते हैं और संसार जिसे सद्गुण कहता है उसे

ये दुर्गुण कहा करते हैं। परन्तु सच बात यह है कि ये मनुष्य सिद्धान्त-रहित होते हैं। ये किसी बात की सारासारता का विचार करने की तकलीफ़ नहीं उठाते। ये अपनी विचित्र निर्णयशक्ति को अद्वितीय समझा करते हैं। ये सब कुछ काम अपने अन्ध आचरण—अकेले रहने के घमण्ड—के आवेश में किया करते हैं।

एक प्रकार के ऐसे भी मनुष्य हुआ करते हैं जो दूसरों को कुछ कहने ही नहीं देते। वे चाहते हैं कि सब मनुष्य सिर्फ़ उनकी बातों को सुना करें और वे जो कुछ कहें उसे चुपचाप सुनते चले जाँय। परन्तु इससे सुननेवालों के साहस की समाप्ति हो जाती है जिससे बातचीत करने का सब आनन्द चला जाता है। किसी किसी मनुष्य में एक महान् दुर्गुण यह होता है कि वे सदैव अनुपस्थित मनुष्यों की निन्दा किया करते हैं और अनाप शनाप बककर और सदा किसी का पक्ष लेकर अपने साथियों का मनोरञ्जन करना तथा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। किसी मनुष्य के आचरण के विषय में राय देना, उसके सम्बन्ध में कुछ भली बुरी बातें कहना और समाज की दृष्टि में उसे नीचे गिराने का प्रयत्न करना मानो इनके सम्भाषण में हँसी दिल्लगी की बात है। परन्तु इन मनुष्यों का उद्देश कभी सिद्ध नहीं होता। समाज के सभी मनुष्यों का दिल इनके विपरीत हट जाता है। इस लिए बातचीत करते समय अपने मुँह से ऐसा शब्द कभी नहीं निकलने देना चाहिए जिससे हमको फिर पश्चात्ताप करना पड़े। और ऐसी तुच्छ बात कभी नहीं करनी चाहिए जिससे दूसरों का अमूल्य समय नष्ट हो अथवा अपनी नीचता प्रकट हो।

बहुत से मनुष्य बातचीत करते समय अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करना चाहते हैं और बात-बात में आत्म-प्रशंसा-सूचक बातें किया करते हैं। यह भी उचित नहीं है। बातचीत करते समय हमें केवल चार बातों पर ध्यान देना चाहिए :— १ सचाई, २ समय और समाज की आवश्यकता, ३ भाषा की सरलता तथा सौन्दर्य, और ४ शिष्ट आनन्द-वर्धक भाषण-शैली का प्रयोग। जो मनुष्य सदा इन बातों पर ध्यान देकर बातचीत किया करता है उसकी बातों का दूसरों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। झूँठ बोलने से हम सम्भवतः दूसरों का नुकसान तो कर ही सकते हैं, परन्तु उससे हम खेद अपना भी बड़ा भारी यह नुकसान कर बैठते हैं कि हम जिस मनुष्य के पास जाते हैं वही हमें घृणा की दृष्टि से देखता है। फल यह होता है कि कोई भी मनुष्य हमारे दुःख का साथी नहीं होता बल्कि हमारे दुःख से दूसरों को सुख होता है, इसलिए कम से कम स्वार्थ की दृष्टि से हमें अवश्य ही सच बोलने का अभ्यास करना चाहिए।

समय और समाज की आवश्यकताओं के प्रतिकूल कभी कुछ नहीं बोलना चाहिए। प्रचलित विषय पर कुछ बोलना या उसको मनोयोगपूर्वक सुनना श्रेयस्कर है। जब किसी विषय पर बातचीत हो रही है तब उसके समाप्त हुए बिना एक नये विषय को ज़बर्दस्ती नहीं शुरू कर देना चाहिए। इसी तरह यदि भाषा को सरल न रखकर उत्तरोत्तर अलंकार-पूर्ण बनाने की चेष्टा की जायगी तो भावों का रसीलापन चला जायगा और तुम्हारे वाक्यों में केवल विधवा स्त्री की चमक-दमक नज़र आवेगी। आनन्द-वर्धक भाषणशैली का प्रयोग करना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह की बातें

कभी नहीं करनी चाहिए जिससे दूसरे अपनी तुच्छता मानें और जिससे दूसरों के दिल में चोट पहुंचे। प्राय: देखा जाता है कि कोई मनुष्य सदा रोगों, दु:ख, और संसार असारता की ही बातें किया करता है अथवा अपने वृथा वागाडम्बर के नशे में दूसरों को निन्दा कर बैठता है। परन्तु सच पूछा जाय तो हमें ईश्वर के घर से यह अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है कि हम किसी मनुष्य के घंटे दो घंटे के आराम के समय को शोकजनक बातों से मलिन कर दें। अतएव जिह्वा की लगाम को सदैव अपने हाथ में रखना चाहिए जिससे कि वह जंगली जानवर की नाईं भड़क न उठे। लगाम ढीली होने से जंगली जानवर को वश में कर लेना असम्भव हो जायगा।

हम ऊपर कह आये हैं कि सम्भाषणकार्य में सबसे बड़ा अवगुण पर-निन्दा करना है। परनिन्दक मनुष्यों की दशा ठीक उस पागल मनुष्य की तरह होती है जिसके हाथ में एक तलवार दे दी जाती है और जो किसी भी मनुष्य को मारने में नहीं हिचकता। निन्दा करनेवाले प्रत्येक मनुष्य में कुछ भी नैतिक साहस नहीं रहता। वह प्रत्यक्ष में कुछ कहने की हिम्मत नहीं रखता। वह उस कायर शत्रु के समान है जो छिपकर वार करना जानता है। सिवा इसके दूसरों की निन्दा करने में यह भी एक नुकसान है कि वह मनुष्य, जिसकी निन्दा की जाती है अपना दुश्मन बन बैठता है। जो मनुष्य यह समझते हैं कि हम दूसरों की जब निन्दा किया करते हैं तब वह बात उसके कानों तक नहीं पहुंचती, वे बड़े मूर्ख हैं। ऐसा होना असम्भव है। दूसरों की तुम हज़ार तारीफ़ करो परन्तु यह बात उसके कानों तक नहीं पहुंचेगी, परन्तु जब तुमने किसी की निन्दा की तब याद रक्खो यह बात उसे हवा के द्वारा मालूम हो

जायगी। इस तरह से जिन जिन मनुष्यों की निन्दा की जाती है वे सब दुश्मन बन जाते हैं और अन्त में निन्दा करनेवाले मनुष्य की दशा ठीक वैसी ही हो जाती है जैसी कि किसी फुटबाल की जो कि एक जगह से लात खाकर दूसरी, और दूसरी से तीसरी जगह चली जाती है। इस लिए पर-अवगुण-अन्वेषण करते रहने और दूसरों को तीर के समान तीखी बातों से मारने से चुप रहना अच्छा है। जहाँ तक होसके मुंह की अपेक्षा, आँखों से, अधिक काम लेना चाहिए।

समयानुकूल बात करना और सम्भाषणचातुरी का होना भी परमावश्यक है। जो काम अधिक द्रव्य से या शक्ति प्रयोग से भी नहीं हो सकता, वह काम मौके की बात कहने से सहजही में हो जाता है। पाठकों को मालूम होगा कि अकबर का मंत्री बीरबल अपनी सभाचारी के कारण कैसे कैसे अन-होने तथा कष्टसाध्य कामों को क्षणभर में कर सकता था।

अन्त में हम अपने विद्यार्थी-पाठकों के उपयोग के लिए कुछ ऐसे संक्षिप्त नियम देना चाहते हैं जिनका सम्भाषण करते समय पालन करना श्रेयस्कर होगा।

(१) जिस तरह से तुम अच्छी किताबों को केवल अपने लाभ के लिए चुनते हो उसी तरह से साथी या समाज भी ऐसा चुनो जिससे कि तुम्हें कुछ लाभ हो। सब से अच्छी किताब और अच्छा मित्र वही है जिससे कि अपना किसी तरह से सुधार हो अथवा आनन्द की वृद्धि हो। यदि उन साथियों से तुम्हें कुछ लाभ नहीं हो सकता तो तुम उनके आनन्द और सुधार की वृद्धि करने का प्रयत्न करो। और यदि उन साथियों से तुम कुछ लाभ नहीं उठा सकते या

उनको तुम स्वयं कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकते तो तुम तुरन्त उनका साथ छोड़ दो।

(२) अपने साथियों के स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त करो। यदि वे तुमसे बड़े हैं तो तुम उनसे कुछ न कुछ पूछो और वे जो कुछ कहें उसे ध्यानपूर्वक सुनो। यदि छोटे हैं तो तुम उनको कुछ लाभ पहुंचाओ।

(३) जब परस्पर की वातचीत नीरस हो रही हो तो तुम कोई ऐसा विषय छेड़ दो जिस पर सभी कुछ न कुछ बोल सकें और जिससे सभी मनुष्यों की आनन्दवृद्धि हो। परन्तु तुम तबतक ऐसा करने के अधिकारी नहीं हो जबतक तुमने नया विषय आरंभ करने के पहिले कुछ न कुछ नये विषय का ज्ञान न प्राप्त कर लिया हो।

(४) जब कुछ नई, महत्त्वपूर्ण अथवा शिक्षाप्रद बात कही जाय तब उसे अपनी नोटबुक में दर्ज कर लो। उसका सार अंश रक्खो और कूड़ा कचरा फेंक दो।

(५) तुम किसी भी समाज में अथवा साथियों के संग आते जाते समय पूरे मौनव्रती मत बनो। दूसरों को खुश करने का और उनको शिक्षा देने का प्रयत्न अवश्य करो। बहुत संभव है कि तुमको भी वदले में कुछ आनन्दवर्धक अथवा शिक्षाप्रद सामग्री अवश्य मिल जायगी। जब कोई कुछ बोलता होतो तुम आवश्यकता पड़ने पर भले ही चुप रहा करो परन्तु जब सब लोग चुप हो जाते हैं तब तुम सबों की शून्यता का भंग करो। सब तुम्हारे कृतज्ञ होंगे।

(६) किसी बात का निर्णय जल्दी में मत करो। पहले उसके दोनों पक्षों का मनन करलो। किसी भी बात को बार बार मत कहो।

(७) इस बात को अच्छी तरह से याद रक्खो कि तुम दूसरों की त्रुटियों और दोषों को जिस दृष्टि से देखते हो वे भी उसको उसी दृष्टि से नहीं देखते। इसलिए समाज के सम्मुख किसी मनुष्य के दोषों पर स्वतंत्रतापूर्ण आक्षेप, कटाक्ष अथवा टीका-टिप्पणी करने का तुमको सदैव अधिकार नहीं है।

(८) यदि अहंकारपूर्ण, आत्मप्रशंसक अथवा शेखचिल्ली मनुष्यों से काम पड़ जाय तो उनको तुम कुछ कड़े शब्दों में समझा सकते हो इससे यदि वे न मानें तो चुप रहो। यदि इसका भी कुछ असर न हो तो उनसे दूर हट जाओ।

(९) बातचीत करते समय अपनी बुद्धिमत्ता दिखाने का व्यर्थ प्रयत्न मत करो। यदि तुम बुद्धिमान् हो तो तुम्हारी बातों से मालूम हो सकता है। यदि तुम प्रयत्न करके हमेशा अपनी बुद्धिमानी प्रकट करना चाहोगे तो सम्भवतः तुम्हारी बुद्धिहीनता अधिकाधिक प्रकट होती जायगी।

(१०) किसी की बात यदि तुम्हें अपमानजनक या किसी तरह से गुश्ताख़ी की मालूम हो तो भी कुछ देर तक चुप रहने का प्रयत्न करो। ऐसा भी हो सकता है कि वह बात तुम्हारे स्वभाव के कारण तुम्हें ख़राब मालूमहो परन्तु सब लोगोंको अच्छी मालूम हो। और यदि बात ऐसी ही हुई तो तुम्हें कुछ देर तक चुप रहने के लिए कभी भी पछताना नहीं पड़ेगा, बल्कि तुम धैर्य का एक नया पाठ सीखते जाओगे।

(११) तुम स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक तथा सरलतापूर्वक बातचीत करो और दूसरों को भी ऐसा ही करने दो। अमूल्य शिक्षा को अल्प समय में प्राप्त करने का इससे बढ़ कर साधन संसार में नहीं है।

(१२) बातचीत करने का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि सदैव सच बोलने का प्रयत्न करो और जो कुछ बोलो उसे शान्ति और नम्रता के साथ । मृदुभाषण में जादू की शक्ति होती है ।

अब हम अपने प्रिय पाठकों को उसी कही हुई बात को एक बार फिर भी बतला देना चाहते हैं, कि संभाषण-शक्ति ईश्वर की एक अमूल्य देनगी है, जिस का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने के अधिकारी और ज़िम्मेदार स्वयं हमी हैं । इसी शक्ति के सदुपयोग से हमारे जीवन की आंशिक सार्थकता हो सकती है, और परोपकार भी यथाशक्ति किया जा सकता है । अतएव हमें सदैव इस शक्ति को स्वस्थ तथा मार्जित अवस्था में रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।
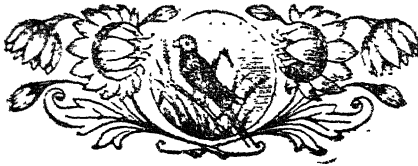
११-व्यावहारिक कार्यशीलता

इस लेखमाला में जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति के कुछ उपाय बतलाये गये हैं और समय समय पर उनकी आवश्यकता तथा उपादेयता भी बतलाई गई है। परन्तु जिस तरह बहुत से राजाओं में एक महाराज होता है, उसी तरह जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति करा देनेवाले उपायों में व्यावहारिक बुद्धि का स्थान है। केवल एक इसी वस्तु के अभाव में मनुष्य का सारा बना बनाया खेल बिगड़ सकता है जब कोई मनुष्य अपने जीवन-संग्राम के लिए अनेक उपयोगी साधनों की अनुकूलता प्राप्त कर चुकने पर भी, अपनी जीवनयात्रा के किसी व्यवहार अथवा कार्य में असफल हो जाता है तब समझना चाहिए कि उसका अधिकांश कारण इसी गुण का अभाव है। अतएव जिसे अपने मानव-जीवन को सफल और कृतार्थ करना है उसे चाहिए कि वह अपनी व्यावहारिक बुद्धि की अधिकाधिक वृद्धि करने में सदैव तत्पर रहे।

व्यवहार-कुशलता को, अर्थात् साँसारिक व्यवहारों को सरलता और सुगमता से चलाने के ज्ञान को, व्यावहारिक बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि साँसारिक बातों और व्यवहारों के ज्ञान और कार्य-साधन की उत्तम रीतियों का मिश्रण है। व्यावहारिक बुद्धि में और ज़बानी बातों में बड़ा अन्तर है।

बहुत से मनुष्य दूसरों को उत्तमोत्तम और सामयिक उपदेश देने में बड़े कुशल होते हैं। वे लोग उपदेश भी ऐसा देते हैं जिससे दूसरों का काम अनेक बाधाओं के रहने पर भी अवश्य बन जाय। परन्तु वे स्वयं अपने उपदेश के अनुसार कार्य करने की शक्ति नहीं रखते। वे केवल सिद्धान्ती होते हैं कार्यशील नहीं। इसी तरह यह भी देखा जाता है कि कार्यशील और व्यवहारकुशल आदमियों में से अधिकांश ऐसे होते हैं जिनमें मनन करने अथवा विचारने की शक्ति बहुत कम होती है, परन्तु ये ही मनुष्य जीवन-संग्राम में विजयी होते हैं। क्योंकि यह संसार कार्य और व्यवहारों के लिए बनाया गया है न कि अकर्मण्यता और उदासीनता के लिए। कहीं कहीं तो यह भी प्रत्यक्ष देखने में आता है, कि प्रखर बुद्धि और अन्य बौद्धिक गुणों का होना साँसारिक उन्नति और सफलताओं के लिए बाधा का कारण हो जाता है। इसीलिए अन्त में यह कहना पड़ता है कि पाठशालाओं की और कालेजों की शिक्षा चाहे कैसी भी उच्च क्यों न हो जब तक वह व्यावहारिक और वैज्ञानिक स्वरूप में नहीं है तबतक वह कौड़ी के काम की नहीं।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की ओर ध्यान देने से बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है कि भारतवर्ष के शिक्षा-विभाग में व्यावहारिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध क्यों नहीं किया। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि हमारे आधुनिक शिक्षित भाई साँसारिक व्यवहारों में अन्य देशवासियों की अपेक्षा कितने पिछड़े हुए हैं। आप किसी भी अँगरेज़ीप्रवेशिका (Matriculation) के विद्यार्थी के पास जाइए, वह आपको यह अच्छी तरह समझा देगा कि उष्णतामापक यन्त्र किस

तरह बनाया जाता है। परन्तु शोक की बात है कि आप किसी साइन्स के ग्रेजुएट के पास जाइए और उसको सब आवश्यक सामान दे दीजिए, तो भी वह उस यंत्र को नहीं बना सकता। यदि वह अपनी बी० एस-सी० की डिग्री की इज़्ज़त बचाने के लिए उस यंत्र को बनाने का प्रयत्न करेगा भी तो उससे घोड़ा बनाते बनाते गधा ही बन जायगा! परन्तु यह उस बेचारे विद्यार्थी का दोष नहीं है, यह दोष है उस शिक्षा का, जिसने उस विद्यार्थी को केवल इतना ही सिखलाया है कि "कठिन" मानी "मुश्किल" और "मुश्किल" मानी "कठिन"! इतना ही नहीं, इससे कुछ और भी अधिक हानि होती है। इस रटन्त-कारख़ाने से जो थोड़ी बहुत बुद्धि खरीदी जाती है इसके मूल्य रूप में अपनी नैतिक शक्तियों को दे देना पड़ता है। इन्हीं सब बातों को देखकर यदि कोई सच्चा समालोचक कह बैठता है कि आज-कल के अधिकांश "पढ़े लिखे" कहानेवाले मनुष्य घर में बैठे बैठे "केवल नये नये सिद्धान्तों की पुड़ियों का पारसल" किया करते हैं, तो हमें सुनकर नाराज़ नहीं होना चाहिये। बात बिलकुल सच्ची है। उनका मन उच्च शिक्षा के प्रभाव से इतना चिकना हो जाता है कि उस में "सांसारिक-घर्षण" कहीं भी नहीं हो पाता। आज कल के बहुतेरे "शिक्षित युवक" बहुत समय तक कालेजों में रहने के कारण, मनुष्य-जीवन के मुख्य ध्येय को भूल जाते हैं। मनुष्य-जीवन का मुख्य ध्येय "कुछ करना" अथवा "कुछ होना" है, न कि दूसरों की कही हुई बातों का मरण-पर्यन्त पिष्टपेषण करते रहना। ऐसी शिक्षा किस काम की, जो हमारी कार्यकारिणी शक्तियों को बढ़ाने और उत्ते-जित करने के बदले उसमें पक्षाघात की बीमारी पैदा करे।

अब हम यह भी देखते हैं कि बहुत से युवक, जो जीवन-संग्राम में अपार ज्ञान का "बोझ लादे बिना" प्रवेश करते हैं, अपनी व्यावहारिक बुद्धि के कारण अपने सांसारिक कार्यों में सफलता प्राप्त करते चले जाते हैं। इनको कोई शिक्षित मनुष्य अपनी भाषा में "अपढ़" अथवा अर्धशिक्षित भले ही कहे, परन्तु ये तुच्छ मनुष्य ही अपने साहस, कौतुक और कार्य-संलग्नता के कारण सैकड़ों एकान्तवासी ढोंगियों को संसार-क्षेत्र में नीचा दिखाते रहते हैं। इनको अपनी अज्ञानता और त्रुटियाँ मालूम रहती हैं, ये फूँक फूँक कर पैर रखते हैं और इन्हें अपने चलने पर पूरा विश्वास भी रहता है। ये थोड़ा थोड़ा ही चलते हैं और आशा के साथ चलते हैं, इसीलिए उद्दिष्ट स्थान पर कभी न कभी पहुँच भी जाते हैं। परन्तु अतिशिक्षित मनुष्य अपनी अधिकता के नशे में ही चूर रहता है। स्मरण रहे कि संसार के महापुरुषों में कुछ इनेगिने मनुष्यों के सिवा प्रायः सब वही हैं जो कम बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, सतत परिश्रमी और धैर्यवान् थे, तथा जो अपनी और दूसरों की ग़लतियों से कुछ नया पाठ सीखना जानते थे।

सम्भव है, हमारी इन बातों से वाचकों को यह भ्रम हो जाय कि हम मानसिक उन्नति और वर्तमान शिक्षा की व्यर्थ अयोग्यता बतला रहे हैं। और उनकी अवहेलना करने का उपदेश दे रहे हैं। पर यथार्थ बात ऐसी नहीं है। मानसिक और बौद्धिक शिक्षा अवश्य ही अमूल्य है। परन्तु जिस तरह आम को विना खाये रखे रहने से, उसका स्वाद नहीं मालूम होता, उसी तरह शिक्षा और ज्ञान का, व्यावहारिक हुए बिना कुछ उपयोग नहीं है। पठन-पाठन और वाचन का ज्ञान, चाहे वह कितना भी अधिक क्यों न हो, आख़िर पुस्तक में

ही रह जायगा। जो ज्ञान हमें जीवन की प्रत्यक्ष बातों से अनुभव द्वारा मिलता है, वही सच्चा ज्ञान है। छटाँक भर ऐसा ज्ञान Wisdom) सेर भर पंडिताई (Learning) से बहुत अच्छा समझा जाता है। संसार में जो बड़े बड़े विख्यात पुरुष होगये हैं वे अधिक पढ़े लिखे नहीं थे। पहले ज़माने में इतनी किताबें ही नहीं थीं। आजकल की लाखों करोड़ों पुस्तकों की जगह उस ज़माने में एकाध पुस्तक मुश्किल से मिलती थी। परन्तु किताबें पढ़े बिना ही पूर्वयुग के मनुष्य एक से एक बढ़ कर गुणवान और कार्यशील हो गये हैं। जिस मनुष्य ने अपनी बुद्धि के छोटे से नमूने के स्वरूप में संसार को रेलगाड़ी बनाना सिखलाया है वह लिखा पढ़ा नहीं था। तात्पर्य यह है कि संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, अथवा ग्रीक, लेटिन और अंगरेज़ी या अन्य भाषाओं के व्याकरण में वाक्यों का जन्म भर विन्यास करते रहने से ही कुछ साहस और कार्यशीलता की वृद्धि नहीं हो जाती। इसी तरह मौलिकता तथा नूतनता तर्कशास्त्र के हज़ारों पृष्ठों को पढ़ने से भी नहीं आती। ये सब बातें प्रत्यक्ष व्यवहार से प्राप्त हुआ करती हैं। ये रटन्त-शिक्षा के फलस्वरूप में कभी नहीं मिल सकतीं। हम इस मानवी-जीवन की घुड़दौड़ में रोज़ देखा करते हैं कि कोई "फ़ारसी पढ़ा हुआ मनुष्य तेल बेचा करता है" और कोई निरक्षर भट्टाचार्य जिसको अपने नाम के हिज्जे तक करना नहीं आता, अपने सभी सांसारिक कार्यों से सफलता प्राप्त करके सुखी होता है। कहीं कहीं ऐसा भी देखा गया है कि जो मनुष्य राज्य शब्द की परिभाषा तक नहीं जानता उसने एक बृहत् राज्य का संचालन करके उसको तुष्टि और पुष्टि से पूर्ण बना दिया है। इन सब बातों का

कारण ढूँढ़ा जाय तो मालूम होगा कि इन मनुष्यों के पास यद्यपि यूनिवर्सिटी का कोई सार्टीफ़िकेट नहीं था तथापि ये इस जीते जागते संसार की व्यावहारिक शालाओं में पढ़े थे। इन लोगों ने इस कार्यमय जगत् की शिक्षाओं और उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुना और समझा था, इन्हीं लोगों को हम सच्चे कार्यकुशल और व्यवहार-निपुण कह सकते हैं । आजकल की उत्तम कहलानेवाली पुस्तकीय शिक्षापद्धति में यह सामर्थ्य नहीं है।

अनुभव से मालूम होता है कि सांसारिक सफलताओं के लिए मन को सभी बातों के स्वल्प संग्रह का अजायबघर बना लेने की अपेक्षा उसको अच्छा संसार पूर्ण कार्यालय बना देना कहीं बढ़ चढ़ कर है। विख्यात अँगरेज़ ग्रन्थकार बेन का कथन है कि—"पुस्तकें पुस्तकों का उपयोग करना नहीं सिखला सकतीं।" पुस्तकों का उपयोग हमें अपने चारों ओर का जीवित और व्यावहारिक संसार ही सिखला सकता है। आदर्श जीवन-चरित का लिखना सहज है परन्तु आदर्शजीवन का मनुष्य बनाना बहुत कठिन है । इसी तरह यह भी सम्भव है कि बिना किताबों के पढ़े ही कोई सुसंगठित मन का मनुष्य संसार के लिए महान् से महान् कार्य कर डाले।

मनुष्य चाहे कैसा भी प्रतिभाशाली क्यों न हो, परन्तु जबतक उसे कुछ व्यवहार-ज्ञान और कार्यसाधन की रीतियों का ज्ञान नहीं है, तबतक वह सफलमनोरथ भी नहीं हो सकता । हाँ यह बात सच है कि वह उन बातों की लाभ-हानि को बहुत ही जल्दी समझ लेगा जिनको समझने के लिए किसी साधारण मनुष्य को बहुत समय लगेगा। उदाहरणार्थ, गृद्ध पक्षी अपने शिकार पर दौड़ते हुए, आवाज़ के

साथ झपटता है और उसे थोड़े से प्रयत्न से पा भी जाता है, परन्तु बिल्ली अपने शिकार के लिए ऐसा नहीं कर सकती। उसे उसके पास छिप छिप कर, दबे पैर, धैर्य के साथ जाना पड़ता है। चाहे कोई मनुष्य कैसा ही पण्डित क्यों न हो उस का साँसारिक काम व्यवहारकुशलता के बिना नहीं चल सकता। कहने का तात्पर्य यही है कि साँसारिक कामों में व्यवहारकुशलता ही सफलताओं की कुञ्जी है। क्योंकि यह ईश्वर की सञ्चालन-शक्ति का एक अंश है। जो मनुष्य आज तक किसी न किसी प्रकार प्रतिष्ठित हुए हैं, उनमें सब विचारशील रहे हों अथवा नहीं, परन्तु वे सब कार्यशील और व्यवहार-कुशल अवश्य थे। व्यवहारकुशलता कई बातों में पाई जाती है। जैसे अपने आसपास क्या हो रहा है उसे हम खुली आँखों से देखें, हम अपनी दशाओं और परिस्थितियों के अनुकूल बन जाँय, सहानुभूति और सहृदयता दिखलाने और पाने की योग्यता प्राप्त कर लें, उचित बात को उचित समय में उचित शब्दों में ही कहें, समय और विश्व की गति के साथ चलना सीखें, इत्यादि। संसार में सफलता पाने के लिए केवल योग्य और उचित कार्य के कर देने से ही काम नहीं चलता, किन्तु उचित समय और उचित स्थान का भी पूरा पूरा ध्यान होना चाहिए। बहुत से ऐसे व्यवहार-ज्ञान-शून्य मनुष्य होते हैं जो कार्य-सम्पादन करते समय दूसरी सीढ़ी पर पहले चढ़कर फिर पहली सीढ़ी पर पैर रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसका फल क्या होना चाहिए। प्रायः मनुष्य में बुद्धि की कमी नहीं रहती। यदि किसी वस्तु का अभाव रहता है तो काम करने के तरीक़ों के ज्ञान का। परन्तु यदि बुद्धि के द्वारा मनुष्य एक काम कर

सकता है तो कार्य साधन के तरीकों के ज्ञान द्वारा। उसके दस काम बड़ी सरलता से हो सकते हैं। साधारण बुद्धि में और कार्यसाधन के तरीकों के ज्ञान में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। तरीकों के जाननेवाला अपढ़ दूकानदार मितव्ययिता की शिक्षा देनेवाले कालेज के प्रोफ़ेसरों से अधिक धन बचा लेता है। व्यवहार ज्ञान वह पारस का पत्थर है जिसके प्राप्त करने से धनलोलुप मनुष्य सुवर्ण का ढेर पा सकता है और सांसारिक कार्यों के क्षेत्र में काम करनेवाला सफलमनोरथ हो सकता है। सारांश यह है कि साँसारिक सफलताओं के लिए व्यवहारकुशलता का होना अत्यावश्यक है। इसके विपरीत बड़े बड़े लेखक और कवि तथा उपदेशक ऐसे हो गये हैं जो अपने ही कथन का आचरण स्वयं नहीं कर सके। वे दूसरों को बारीक से बारीक बातें सिखला सकते थे। परन्तु कब तक? जब तक उनका एकान्त भवन उनके पास था तभी तक, एकान्तवास छोड़कर बाहर, मनुष्यों की भीड़ में आते ही, उनकी बुद्धि हवा में मिल जाती थी। इसके बहुत से उदाहरण हैं। आडम स्मिथ ने समस्त यूरप को मितव्ययिता का पाठ सिखलाया, परन्तु वह अपने घर की मितव्ययिता का प्रबन्ध नहीं कर सकता था। अँगरेज़-कवि गोल्डस्मिथ ने धन-संग्रह करने की आवश्यकता और ऋण की आपत्तियों पर बहुत कुछ लिखा है, परन्तु अच्छी आमदनी होने पर भी वह ऐसे स्वभाव का था कि दूसरों के लिए कुछ लेख, कविता आदि लिखे बिना उसको रोटी खाने को नहीं मिलती थी।

ऊपर हम जिस व्यवहार-कुशलता का संसार में काम करने के ढंग का और संसार में चल सकने के ज्ञान का वर्णन

कर चुके हैं वह जीवन संग्राम में सफलता-प्राप्ति के लिए कारणीभूत तो अवश्य है, परन्तु वह कुछ सफलता प्राप्त करा देने का ठेकेदार नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसके अभाव में सफलता कभी नहीं मिल सकती, क्योंकि सांसारिक सफलता की प्राप्ति के लिए सांसारिक व्यवहारों के ज्ञान की उतनी ही आवश्यकता है जितनी पुस्तक पढ़ने के समय आँख खोलने की। व्यवहार-ज्ञान-रहित मनुष्य सदैव ऊटपटांग कार्य करता रहेगा। ऋण चुकाने में वह सदा कुछ न कुछ बकाया ही रक्खेगा। बड़ों को चिट्ठी लिखने में वह उद्दण्डता दिखलावेगा। छोटों के लिए घृणासूचक शब्दों का उपयोग करेगा। उसको सोने के समय खाने की सूझेगी और दुःख के समय दिल्लगी करना पसन्द होगा, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि असाधारण बुद्धिवाले मनुष्य भी बहुधा व्यवहार-ज्ञान-शून्य रहा करते हैं। लोगों को इस बात का आश्चर्य होता है कि जो मनुष्य पुस्तकों, लेखों और उपदेशों के द्वारा दूसरों को उचित मार्ग बतला सकता है वह बुद्धिमान् मनुष्य अपने आवश्यक कार्य्यों के साधन में कैसे चूक जाता है। परन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। गम्भीर मननशक्ति और विचारी शक्ति में जिन्हें मानसिक गुणों की आवश्यकता होती है, व्यवहार-ज्ञान में ठीक उनके विपरीत गुणों की आवश्यकता होती है।

ऊपर कहीं कहीं कहा गया है कि ग्रन्थों से प्राप्त होने वाला ज्ञान सांसारिक सफलताओं के लिए उतना आवश्यक नहीं है जितना कि संसार के व्यावहारिक कार्यों के करने का तरीका अथवा व्यवहार कुशलता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ग्रन्थ अनुपयोगी वस्तुए हैं। नहीं, बात यह है कि

अधिक वाचन करनेवाला मनुष्य अधिक मनन, चिंतन और विचार करने में अपने समय को वृथा सिद्धान्तवाद में ही नष्ट कर देता है और अमुक अमुक कल्पित कठिनाइयों के कारण कार्यारम्भ ही नहीं करता। उसकी जीवनयात्रा सिद्धान्त-रचना में ही समाप्त हो जाती है। इसलिए ग्रन्थ-जन्य ज्ञान के साथ व्यावहारिक कुशलता का होना अत्यावश्यक है। एक दूसरे का पोषक तो अवश्य है, परन्तु एक के होने से दूसरा भी अवश्य मौजूद होगा—यह नहीं कहा जा-सकता। अतएव अपने मानवी-जीवन की सार्थकता तथा सफलता के लिए दोनों गुणों को प्राप्त करना चाहिए।

१२—युवावस्था का उपयोग

इस लेखमाला के पिछले लेखों में कुछ ऐसे सद्-गुणों की चर्चा की गई है जिनका प्राप्त करना हरएक व्यक्ति के लिए आवश्यक और उप-योगी है। परन्तु गुणों का प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के चरित्र-संगठन की किसी एक विशेष और परिमित अवस्था पर ही बहुधा अवलम्बित रहता है। यदि प्रत्येक अवस्था कार्य और उपयोग उसी अवस्था और समय में न होता जाय, तो समस्त जीवन का कार्य-क्रम बिगड़ जाता है, जिसका फल यह होता है कि हमारा यह मानवी जीवन नितान्त असफल होकर एक दुःखान्त नाटक का उदाहरण हो जाता है। इसलिए आज तक हम इस लेखमाला के पाठकों को जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्त करने के जो थोड़े से उपाय बतला चुके हैं, उनके साथ ही साथ अब हमें यह बतला देना भी परम आवश्यक प्रतीत होता है, कि मनुष्य-जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का उपयोग कैसे करना चाहिए। मनुष्य-जीवन चार अव-स्थाओं में विभक्त किया जाता है:—(१) बाल्यावस्था, (२) युवावस्था, (३) मध्यमावस्था, और (४) वृद्धावस्था। इन चारों अवस्थाओं के भिन्न भिन्न उपयोग और कर्तव्य हैं। यदि हो सका तो इन सब पर आगामी लेखों में कुछ विचार किया जायगा। यहाँ तो हम अपने प्रेमी विद्यार्थियों को केवल यह बतलाना चाहते हैं कि उनकी युवावस्था के कर्तव्य क्या हैं

युवावस्था मनुष्य-जीवन-रूपी विशाल भवन की 'नींव' नहीं तो 'कुर्सी' अवश्य कही जा सकती है। यह वह अवस्था है जिसमें हर एक मनुष्य को अपने भविष्य-जीवन के कल्याण-विटप की बाल्यावस्था में बोये गये बीज को अंकुरित करने का यत्न करना चाहिए। यह आत्मिक शक्तियों का विकास-काल है। यही शील और स्वभाव के बनने बिगड़ने का समय है। यदि इस अवस्था में हम अपनी आन्तरिक शक्तियों के तथा सद्गुणों के विकास का कोई यत्न न करेंगे तो फिर वह कभी नहीं हो सकता। इसलिये हमें अपने जीवन के इस सर्वश्रेष्ठ समय को वृथा न जाने देना चाहिए।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने बतलाया है कि यौवन काल का एकमात्र मुख्य कर्तव्य उपार्जन तथा संग्रह करना है। संग्रह किस वस्तु का? उत्तर यह है कि किसी उच्चातिउच्च हेतु की सिद्धि के लिए, जीवन की सफलता के लिए, सभी आवश्यक वस्तुओं का अर्थात् स्वास्थ्य, ज्ञान, सद्गुण, शक्ति आदि का संग्रह तथा उपार्जन करना चाहिए। मनुष्य जीवन की सफलता के लिए कुछ आवश्यक बातों का वर्णन पहले किया जा चुका है, अतएव यहाँ सिर्फ ऐसी बातों का उल्लेख किया जायगा जिनका सम्बन्ध विशेषतः युवावस्था से है।

युवावस्था में हर एक मनुष्य को यद्यपि अचूक निर्णय शक्ति प्राप्त नहीं होती है तथापि उसे छोटे मोटे विषयों पर हानि लाभ के विचार करने की योग्यता अवश्य प्राप्त हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य यह अच्छी तरह जानता है कि यौवनकाल में अपनी शिक्षा और स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान देना चाहिये। अतएव इनका विस्तार न करके नीचे कुछ ऐसे सद्गुणों का वर्णन

किया जाता है जिन्हें प्राप्त करना हमारे बहुतेरे युवकगण भूल जाते हैं।

इस संसार में मनुष्य का हित करनेवाली अनेक बातें हैं परन्तु सबसे अधिक हित करनेवाली वस्तु उसका सदाचरण या शील ही है। इस बात पर छोटी अवस्था से ही जितना अधिक ध्यान दिया जाय उतना ही अच्छा है। यदि आरम्भ से ही इसकी विशेष चिन्ता न की जायगी तो आगे चलकर, उपाय करने पर भी, भलाई होने की बिलकुल सम्भावना नहीं है। जिस तरह किसी बीमारी के उत्पन्न होते ही उसको रोकने के लिए कुछ औषध न की जाय और उसे उत्पन्न होकर बढ़ने दिया जाय तो वह कुछ समय में असाध्य हो जाती है, उसी तरह दुराचार और व्यसनों का हाल है। यदि प्रारम्भ होते ही इन्हें नष्ट करने का यत्न न किया जायगा तो अभ्यास या स्वभाव पड़ने पर उनका रोकना असम्भव हो जायगा। बाल्यावस्था और युवावस्था में मनुष्य का स्वभाव कच्चा और नया रहता है। इस अवस्था में मनुष्य का स्वभाव कच्ची मिट्टी के समान रहता है, जिससे किसी भी साँचे का बर्तन तैयार किया जा सकता है। परन्तु जब एक बार उस मिट्टी से बर्तन तैयार करके वह अग्निद्वारा सुदृढ़ कर दिया जाता है तब उसमें फिर परिवर्तन कदापि नहीं किया जा सकता। नई आदतें प्राय: तरुण अवस्था में ही लगा करता है। इसलिए अपने चरित्र-संगठन में अपने स्वभाव को अभीष्ट साँचे में ढालने के लिए शुरू से ही पूर्णतथा सचेत और सतर्क रहना आवश्यक है।

आत्म-सुधार करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक युवक का दूसरा अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कर्तव्य यह है कि वह कुसंगति

का सदा त्याग करे और मनमें सदैव सद्भावों ही का उदय होने दे। हमारे अंगरेज़ी जाननेवाले पाठकगण "Man is the maker of his destiny" इस कहावत से परिचित होंगे। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं आप ही है, अर्थात् अपनी पूरी ज़िन्दगी को वह अनेकांशों में अपने इच्छानुसार सुखी अथवा दुःखी बनाने में स्वतन्त्र है। यदि बात ऐसी है तो अब प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने समस्त जीवन-काल में अपनी इच्छा के अनुसार सुख ही सुख क्यों नहीं पाता? इसका उत्तर यही है कि वह अपनी युवावस्था का उचित उपयोग करने के बदले उसको बिगाड़ डालता है। बाल्यावस्था और युवावस्था स्वास्थ्य तथा विद्या प्राप्ति के लिए, मध्यमावस्था धनसञ्चय तथा पुरुषार्थ के लिए और वृद्धावस्था सत्कर्म तथा पुण्यसञ्चय करने के लिए बनाई गई है।

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥

यदि समय का काम ठीक समय ही में न किया जाय तो उसका इष्ट फल कैसे मिल सकता है? उक्त कहावत के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ अधिक नहीं लिख सकते। प्रत्येक युवक इस कहावत को अपनी जीवनरूपी कसौटी में कस कर देख सकता है कि इसमें कहाँ तक सत्यता है। अतएव सुख पाने की और अपने भाग्य का स्वयं विधाता बनने की इच्छा रखने वाले युवकों से हमारा सानुरोध केवल यही निवेदन है, कि वे इस विषय में पहले ही से सावधान हो जायँ और ऐसी सङ्गति और व्यसनों में न पड़ने पावें जिससे उन्हें भविष्य में दुःख

और पश्चात्ताप करना पड़े। संसार में केवल दो मार्ग हैं, एक अच्छा और दूसरा बुरा। इन दोनों मार्गों पर चलने में हर एक आदमी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। वह अपनी इच्छा के अनुसार दोनों में से किसी भी एक मार्ग पर पैर रख सकता है। युवावस्था में मनुष्य अनुभवहीन, चञ्चलस्वभाव का और लाभ-हानि में प्रायः विवेक-रहित होने के कारण बुरे मार्ग में पैर रखने ही में सुख पाने का स्वप्न देखा करता है, जिससे अन्त में उसे केवल दुःख ही दुःख मिलता है। इसलिए कुसङ्गति का त्याग करके कुभावों का मन में उदय होते ही उन्हें दूर फेंकना चाहिए। बस, इस मार्ग के चुनने पर ही उसका भविष्य टिका हुआ है। यहाँ जो विचलित हो गया वह कभी सँभल न सकेगा।

तीसरी विशेष ध्यान देने योग्य बात विचारों की स्वतन्त्रता है। यह एक ऐसा गुण है जिसका स्मरण करते ही भारतवर्ष की दुर्दशा की झलक आँखों के सामने शीघ्र ही आ जाती है। इस गुण का युवकों में क्या, बहुत से मध्य और वृद्ध अवस्था के मनुष्यों में भी अभाव देखा जाता है। बहुधा यही देखने में आता है कि बहुत से मनुष्य स्वतन्त्र विचार करके कोई सिद्धान्त अपने जीवन के लिए निश्चित नहीं करते, दूसरों के परस्पर विरुद्धमतों को भी क्रमशः सत्य मानने लगते हैं। और उन्हीं के अनुसार कार्य भी करने लगते हैं। पाठकगण, यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि एक ही वस्तु एक ही साथ साँप और रस्सी कभी हो नहीं सकती। इसलिए हमें अपनी युवावस्था में स्वतन्त्र रीति से अपना मत और विचार किसी विषय पर निर्धारित करने का पूरा पूरा अभ्यास करना चाहिए। परन्तु स्मरण रहे कि विचार

स्वतन्त्रता से हमारा आशय हठ-धर्म कदापि नहीं है। हर एक स्वतन्त्रता की तरह इसकी भी सीमा होनी चाहिए। विचार की स्वतन्त्रता और दृढ़ निश्चय का मूल आधार सत्य पर ही स्थित होना चाहिए हठ पर नहीं।

चौथी महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात वही है जिसे आजकल के प्रायः निन्यानवे फ़ीसदी युवक या तो भूल जाते हैं या उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। वह बात है ईश्वर-निष्ठा। सच तो यह है कि हमारे विद्यार्थी-जीवन गार्हस्थ्य-जीवन और सार्वजनिक-जीवन का विकास ईश्वर-निष्ठा के साथ ही साथ होना चाहिये। इससे अनेक लाभ होते हैं। इसके द्वारा हमें मानसिक शान्ति और पापभीरुता तो आती ही है, परन्तु एक विशेष लाभ यह होता है कि इस निष्ठा के बल से हमारे किये हुए सब कामों में एक प्रकार की सात्विक शोभा, तेजस्विता और आकर्षण शक्ति आ जाती है। फलतः हम अपने इष्ट कार्य का प्रभाव अपने सम्बन्धियों और पड़ोसियों पर अच्छी तरह से डाल सकते हैं। ईश्वर-निष्ठा और और धर्म-परायणता के अभ्यास का युवावस्था में ही विशेष सुभीता होता है, क्योंकि इस अवस्था में हमारी चित्तवृत्तियाँ शुद्ध, सात्त्विक और उदार रहती हैं। शोक के साथ कहना पड़ता है कि बहुतेरे नवशिक्षित युवक, आन्तरिक इच्छा के न रहने पर भी, केवल विवाद और नाशकारी मनोरञ्जन के लिए नास्तिकता, अविश्वास और अधार्मिकता प्रकट करने में ही अपना बड़प्पन समझते हैं। परन्तु उस परम दयालु न्यायी और सर्व शक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व के लिए विद्वानों की तो बात दूर है, मूर्खों को भी प्रमाण ढूँढने दूर नहीं जाना पड़ेगा। चींटी से हाथी तक, धूल से पहाड़ तक, एक बूँद

पानी से महासागर तक और कहाँ तक कहें, उन्हें जन्म से मृत्यु पर्यन्त दीखने या सुनी जानेवाली सभी बातों और वस्तुओं में उस परमपिता के अस्तित्व का पता पग पग पर लगता है परन्तु हम लोग थोड़ी सी विद्या, धन अथवा यौवन के घमण्ड में आकर उस जगदाधार के प्रति महान् अकृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिसने स्वयं हमको और इस सृष्टि को बनाया है। ईश्वर और स्वधर्म पर निष्ठा रखने से हमें एक ऐसा अद्भुत बल प्राप्त हो जाता है जो आपत्तियों और नीच कर्मों को धक्के मारकर अलग हटा देता है। इसी स्वधर्म-बल से आत्मबल और आत्मबल से प्रबोधन शक्ति प्राप्त करके उसके द्वारा आन्दोलन और जागृति का कार्य करके अपना और दूसरों का कल्याण कर सकते हैं।

पाँचवाँ गुण जिसके प्राप्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है और जो युवकों का भूषण कहा जा सकता है, विनय है। विनय दो प्रकार का होता है। एक स्वाभाविक और दूसरा कृत्रिम। मनुष्य-जीवन के लिए ये दोनों प्रकार के विनय हितदायक हैं। स्वाभाविक विनय केवल उसी मनुष्य के पास पाया जाता है जिसके पास कुछ न कुछ सच्ची योग्यता रहती है। यदि स्वाभाविक विनय का अभाव हो तो संसार का बहुत सा काम बनावटी विनय से भी चल सकता है। विनय का होना कुलीनता, विद्वत्ता और सहृदयता का सूचक है, डरपोकपन और खुशामद का नहीं। हम पर माता पिता और अन्य गुरुजनों का सदैव बड़ा भारी ऋण रहता है जिससे हम पूर्णतया कभी मुक्त हो नहीं सकते। अतएव जहाँ तक हो सके हमें उनके अनन्त उपकारों से उऋण होने के लिए सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए। इन प्रयत्नों का सच्चा मार्ग

यही है कि हम उनकी आज्ञाओं और इच्छाओं की पूर्ति बहुत नम्रता और विनय के साथ किया करें । विनय का एक विरोधी मनोविकार अहङ्कार है । विनय जितना अच्छा है अहङ्कार उतना ही बुरा है । परन्तु बहुधा ताज़ा खून होने के कारण युवकगण इस दुर्गुण के जाल में फँस जाते हैं । युवकों में अहङ्कार बहुधा इसी कारण से पाया जाता है कि वे अपने को सर्वज्ञ, स्वतन्त्र और पूर्ण अनुभवी समझने लगते हैं । इस सर्वज्ञता के दुरभिमान का फल यह होता है, कि वे शीघ्र ही ठोकरें खाकर अवनति के गढ़े में गिर जाते हैं । इस लिए युवकों को सदैव विनय को स्वीकार और दुरभिमान का त्याग करते रहना चाहिए ।

छठी आवश्यक बात है स्वदेश और मातृभूमि पर निस्सीम प्रेम । अहा ! 'स्वदेश' या 'मातृभूमि' शब्द में कैसी अद्भुत शक्ति है ! इसने अबतक न जाने कितने लेखकों को, कितने वक्ताओं को, कितने कवियों को, कितने नीतिज्ञों और कितने ही शूरवीरों को अपने अतुल प्रभाव से मुग्ध कर डाला है ! यही इस संसार में अन्याय को रोकनेवाली, अनीति को हटाने-वाली और अधर्म का सँहार करनेवाली ईश्वर की अगाध शक्ति है । इसीसे भूलोक में न्याय, नीति और धर्म की प्रतिष्ठा है । इसीके आधार पर ज्ञानियों को आत्मज्ञान, भक्तजनों को अनन्य प्रेम का अनुभव और कर्मयोगियों को ईश्वर का साक्षात्कार हुआ करता है । यही स्वदेशप्रेम और मातृभूमि का अनुराग सर्वसाधारण लोगों में चैतन्य की जागृति करके इस मृत्युलोक को अमर बना कर सब जीवों को बन्धन से मुक्त कर सकता है । यही आत्मनिष्ठा का, ईश्वर-निष्ठा का और भगवत्प्रेम का सच्चा प्रतिनिधि है । इस

सात्त्विक गुण की प्राप्ति के लिए बन्धुप्रेम, परहितबुद्धि उदारता, न्यायपरायणता, भूतदया, समदृष्टि और उच्च कोटि की महात्वाकाँक्षाओं का होना आवश्यक है। इस गुण को प्राप्त करने का सरल साधन सामयिकता है पर इससे बाहरी ठाटबाट और बूट कालर की सामयिकता का अर्थ नहीं है। सामयिकता तो देश की दशा का—अपनी मातृभूमि के सम्बन्ध में कोने कोने तक का—सच्चा ज्ञान प्राप्त करने में होनी चाहिए। स्वदेशप्रेम के लिए सबसे पहले हममें अपने हृदय के "अपनापन" का शुद्ध भाव होना चाहिए। जबतक हम स्वयं अपने और अपने देशभाइयो के सुख दुःखों को, आवश्यकताओं और अधिकारों को तथा स्वत्वों की प्राप्ति के साधनों को अच्छी तरह जान न लेंगे, तबतक हम में देश-प्रेम का यथार्थ भाव कभी जागृत नहीं हो सकता। बहुतेरे बुद्धिहीन और निर्जीव हृदय के मनुष्य स्वदेशप्रेम तथा मातृभूमि-सेवा से इतने डरते हैं जैसे कोई बच्चा अज्ञानवश हौवा से डरता हो। वे कदाचित् इस उज्ज्वल तथा दैवीगुण को अराजकता अथवा राद्रोह का सगा भाई समझते हों! परन्तु उनकी यह समझ ठीक वैसी ही है, जैसे सूर्य में गर्मी का अभाव अथवा जीवित मनुष्य में प्राणवायु का अभाव माना जाय। सच पूछिए तो स्वदेश प्रेम ही वह गुण है जिसके द्वारा मनुष्य राजभक्ति सीख सकता है। देश और राजा से उसी तरह का सम्बन्ध रहता है जैसे आत्मा और शरीर का। तो क्या यह कभी सम्भव है कि इनमें से एक पर प्रेम करने से और उसका पोषण करने से दूसरे का नाश हो? हम तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि जो मनुष्य अपने देश पर प्रेम नहीं रखता वह कभी राजभक्त भी नहीं हो सकता। देशभक्ति ही

का एक प्रधान अङ्ग राजभक्ति है। इसलिए हर एक युवक को देशभक्त बनने और कहलाने में अपना गौरव समझना चाहिये।

सातवाँ संग्रहणीय सद्गुण सत्यप्रियता है। जिस प्रकार ईश्वरनिष्ठा, विनय आदि गुणों का अभ्यास तरुणाई में करना चाहिए, उसी प्रकार सत्यप्रियता का भी अभ्यास इसी समय में करना परम आवश्यक है। इसकी सहायता से और कृत्रिमता का त्याग करने से, सब सद्गुणों की वृद्धि होती है। अपने जीवन के सब सिद्धान्तों को सत्यता और स्वाभाविकता के आधार से ही निर्मित करना चाहिये।

जो मनुष्य बोलता कुछ है, विचारता कुछ और करता कुछ और ही है, वह आगे चलकर बड़ा नीच, विश्वासघाती और परनिन्दा में रत हो जायगा। वह समाज-कंटक बनकर समस्त ससार के तिरस्कार का पात्र हो जायगा। सत्य पक्ष के ऊपर पहले चाहे विपत्ति भी आजाय परन्तु अन्त में उसकी जीत हुए बिना नहीं रहती। सत्य का मार्ग अगम होने पर भी सुगम, सीधा और सरल होता है। सत्य के ही बल पर संसार स्थित है। इसके विपरीत झूठेपन का मार्ग क्षणिक मोहकता के कारण पहले यद्यपि सरल मालूम होता हो परन्तु अन्त में दूध का दूध और पानी का पानी ही होता है। हर एक मनुष्य इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि झूँठ सदा अन्त तक नहीं छिप सकता। तब फिर भंडा फूट जाने पर बड़ी विपन्न दशा आ पहुँचती है। इतना ही नहीं, झूठे-पन का मार्ग सभी तरह से नाशकारी है। एक झूठ बात कह कर उसका निर्वाह करने के लिए दूसरी झूठ बात बनानी पड़ती है। और दूसरी के लिए तीसरी। इस प्रकार सदा झूँठी बातें करने की ही आवश्यकता होती जाती है। अन्त में किसी

न किसी बार निशाना चूक जाने पर मनुष्य ऐसा बेढब फसता है कि फिर उस जाल से जन्म भर निकलना असंभव हो जाता है। असत्यप्रिय मनुष्य अपने आचरण से सदा विचार-हीनता, मन-दुर्बलता और कायरता प्रकट किया करता है। सत्यवक्ता में पूर्ण साहस होता है। उसे असत्य सरीखी तुच्छ चीज़ों के आश्रय में जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं मालूम होती। परन्तु सत्यभाषण के समय एक बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि मनुष्य को 'लट्ठमार सत्य' कभी नहीं बोलना चाहिए। "सत्य बोलो अवश्य, परन्तु प्रिय शब्दों में। कहा भी है कि "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्"।

आठवाँ गुण, जिसके बिना सब बना बनाया खेल बिगड़ जाता है, संयम अथवा इन्द्रियनिग्रह है। यह वह पहरेदार सिपाही है जिसकी गैरहाज़िरी में अपने पास के बहुत से गुण चोरी, डाके और शरारत करने की तैयारी करने लगते हैं। पुराने ज़माने की एक कथा है। किसी मनुष्य के पास जब बहुत से गुण हो गये और जब वह उन सब की देख भाल ठीक ठीक नहीं कर सका, तब उसने अपने समय की सब समाचार-पत्र-पत्रिकाओं में एक विज्ञापन निकाला, जिसका आशय यह था कि अमुक अमुक सद्गुणों का संग्रह ही मेरी पूँजी है और मैं अपने इन गुणों के कोष की रक्षा अच्छी तरह से नहीं कर सकता, इसलिए जो मनुष्य इस कोष की पहरे-दारी की नौकरी करना चाहता हो वह मेरे पास दरख़्वास्त भेजे, वेतन योग्यतानुसार दिया जायगा। विज्ञापन को सारे शिक्षित संसार ने पढ़ा। परन्तु उस नौकरी के लिए दर-ख़्वास्त देने की हिम्मत किसी को न हुई, क्योंकि शर्त बहुत

कड़ी थी। बहुत दिनों के बाद दो आदमी नौकरी के लिए स्वयं पहुँचे। एक आया पूर्व से जिसका नाम "संयम" था। दूसरे महाशय आये थे पश्चिम से। आपका नाम मिस्टर "विलास" था। बहुत जाँच पड़ताल के बाद उस विज्ञापन-दाता ने संयम को ईमानदार समझकर नौकरी दे दी। मिस्टर "विलास" निराश और क्रुद्ध होकर चले गये। उसी समय से वे संयम पर बहुत नाराज़ हैं और उससे बदला लेने की चिन्ता में रहा करते हैं। जब कभी वह संयम नामक सिपाही ग़ैरहाज़िर रहता है, तभी मिस्टर 'विलास' उस गुणों के कोष का सत्यानाश करके बेचारे संयम पर बट्टा लगाना चाहते हैं। परन्तु संयम के रहते मिस्टर विलास को स्वयं अपने ही विनाश का भय बना रहता है। इससे वे पास नहीं फटकते। प्यारे पाठको! इस पुराने ज़माने की कथा का सारांश बिल-कुल सच है। यह त्रिकाल सत्य है। यदि आपके पास भी सद्-गुणों का कोई कोष हो (है अवश्य, हमारा तो यही विश्वास है) तो उसकी रक्षा के लिए आप संयम पहरेदार को ढूँढ़िए।

ऊपर युवावस्था के जो जो कर्तव्य या उपयोग बतलाये गये हैं वे सब महत्त्वपूर्ण और लाभकारी हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक सद्गुणों का अभ्यास बतलाया जा सकता है। परन्तु इस समय इतना ही काफ़ी होगा। यदि हमारे नवयुवक चाहें कि उक्त कर्त्तव्य-कुसुमों की एक पुष्पमाला बनाकर अपने हृदयस्थल में धारण कर लें तो उनके जीवन की सार्थकता होकर शोभा भी हो सकती है। इस अद्भुत पुष्प-जय-माल की सुगन्ध से वे अपने साथ अपने कुटुम्ब और समाज को कृतकृत्य कर सकते हैं। परन्तु जबतक इस जय-माल के मध्य में एक गुलाब का फूल न हो, तब तक इसकी

शोभा हज़ार उपाय करने पर भी फीकी ही रहती है। अतएव इस जयमाल की शोभा को पूर्ण करने के लिए हम जबतक उस बीच की ख़ाली जगह को उद्योगरूपी गुलाब के फूल से न भर देंगे, तबतक उसमें पूर्णता न आवेगी। फूलों म जैसे गुलाब का स्थान ऊँचा है वैसे ही सब गुणों में उपयोग या प्रयत्न का भी दर्जा है। स्मरण रहे कि उद्योगरूप इस स्वर्गीय गुलाब के पौधे लगाने की सर्वोत्तम ऋतु तरुणाई ही है। यदि तरुणावस्था में इस स्वर्गीय पुष्प की प्राप्ति के लिए उचित प्रयत्न न किया जायगा तो जीवन-संग्राम में विजय की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। हमने अपना यह आन्तरिक विश्वास अनेक स्थानों में प्रकट किया है कि भविष्य भारत के निर्माता हमारे युवक विद्यार्थीगण ही हैं। यथार्थ में वे ही देश की भविष्य उन्नति के आधारस्तम्भ हैं। परन्तु जिस ज़िम्मेदारी के अर्थ में 'स्तम्भ' शब्द का उपयोग किया जाता है उस पर सदैव ध्यान जमा रहे, अर्थात् सदाचरण, शील, सुसङ्गति, सद्भाव, विचारस्वातंत्र्य, ईश्वरनिष्ठा, विनय, स्वदेशप्रेम, मातृ-भूमि की सेवा, सत्यप्रियता, संयम, इन्द्रिय-निग्रह आदि सद्गुणों का अभ्यास, युवावस्था में अवश्य किया जावे। इन गुणों की सहायता से यश और लाभ होगा, विजय और सुख होगा, सच्चा स्वार्थ और सर्व श्रेष्ठतर परोपकार सिद्ध होगा। इन सद्गुणों से विभूषित प्रयत्नशील युवक ही आगे चल कर गोखले, गांधी, तिलक, मालवीय बनेंगे और न केवल अपने ही देश के वरन् सारे संसार के जीवित मनुष्यों से 'कर्मवीर', 'रत्न', 'पुरुषसिंह', आदि उपाधियाँ प्राप्त करके इन शब्दों की शोभा बढ़ावेंगे।

१३-मध्यम अवस्था का उपयोग

पिछले लेख में यह बतलाया गया है कि युवावस्था के क्या क्या कर्तव्य हैं तथा उसका उपयोग किस तरह से होना चाहिए। इस लेख में मध्यम अवस्था के कर्तव्यों का दिग्दर्शन कर के यह बतलाया जायगा कि उसका सदुपयोग कैसे किया जा सकता है।

हम पहले कह आये हैं कि युवावस्था का कर्तव्य बहुत थोड़े शब्दों में उपार्जन तथा संग्रह करना है। उसी तरह मध्यमावस्था के कर्तव्यों का भी यदि थोड़े शब्दों में वर्णन किया जाय तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इस अवस्था का एकमात्र कर्तव्य युवावस्था में उपार्जित तथा संगृहीत गुणों को अर्थात् पूर्व "संचित" को "क्रियमाण" स्वरूप देना है। यह बतलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है कि प्रत्येक काम के लिए अनुकूल समय नियत रहता है, संसार की स्थिति-विचित्रता के कारण जिस प्रकार हर एक मनुष्य के कर्तव्य में भेद पड़ जाता है उसी प्रकार वह मनुष्यों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण भी उत्पन्न हो जाता है। जो बातें बाल्यावस्था अथवा तरुणावस्था में शोभा देती हैं वही आगे प्रौढ़ अवस्था में अथवा बुढ़ापे में शोभा नहीं देतीं। जिस उम्र में जिस प्रकार के कर्तव्य इष्ट एवं अनुकूल हैं, उस उम्र में यदि उनका यथावत् सदुपयोग किया

जाय तो मनुष्य को एक विशेष प्रकार का महत्त्व प्राप्त हो जाता है और उसका बर्ताव स्तुत्य तथा उदाहरणीय माना जाता है। इसलिए जीवन-संग्राम में विजय पाने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह अपनी आयु के अनुकूल आचरणों को योग्य रूप से निश्चित करके तदनुसार अपना बर्ताव रखने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया करे।

कुछ विचार करने से यह बात भली भाँति मालूम हो सकती है कि युवावस्था अथवा वृद्ध अवस्था के कर्तव्यों की अपेक्षा मध्यम अवस्था के कर्तव्य बहुत ही अधिक गम्भीर तथा विस्तृत हैं। इस अवस्था में मनुष्य अपने जीवन के कार्यक्षेत्र में प्रवेश करके अनेकानेक उद्योगों में लगा रहता है, साथ ही गृहस्थी का भार भी उस पर खूब आ पड़ता है और वृद्धावस्था के लिए सुख-साधनों के सञ्चित करने का सर्वोत्तम समय भी यही होता है। परन्तु यदि यह अवस्था लापरवाही और अकर्मण्यता में बिता दी जाय इसका यथोचित उपयोग न किया जाय—तो वृद्धावस्था नितान्त दुःखदायी हुए बिना नहीं रह सकती। अतएव ऐसे शोकमय अनिष्ट परिणाम को दूर करने के लिए उपायस्वरूप मध्यमावस्था के जो जो कर्त्तव्य हैं उन पर बहुत ध्यान देना चाहिये।

युवावस्था को पूर्ण कर प्रौढ़ अवस्था में पदार्पण करने वाले मनुष्य का सबसे पहला कर्तव्य यही है कि वह अपने मन को छिछोरी तथा नीच बातों से धीरे धीरे हटा कर उसे अपनी अवस्था को शोभा देने वाली बातों में लगावे। मनोविकारों की उच्छृङ्खलता तथा मनमानी ऊटपटांग बातें युवावस्था में ही उपेक्षणीय रहती हैं। परन्तु इस काल के बीतते ही उनकी अधिकता घट जानी चाहिये। ऐसा न होने से

मनुष्य हंसी का पात्र हो जाता है। उपहास और तिरस्कार से बचने के लिए छिछोरेपन का त्याग और अवस्थानुरूप प्रौढ़ता तथा गम्भीरता का स्वीकार करना बहुत आवश्यक है। हाँ, यह सहसा सम्भव नहीं है कि तरुणाई के अन्त होते ही मनुष्य अपने चिर-अभ्यस्त उद्दण्ड तथा छिछोरी वृत्तियों का भी त्याग कर सके, परन्तु क्रम क्रम से प्रयत्न करते रहने पर ये वृत्तियाँ अवश्य दूर हो सकती हैं। स्वभाव में ओछापन होने के कारण हम दूसरों को कष्ट देकर उनका किसी न किसी तरह का अपकार तो करते ही हैं परन्तु हम इस ओछे-पन के कारण सदा अपनी भी हानि करते रहते हैं। इसलिए देश और समाज की दृष्टि से न सही किन्तु कम से कम अपने स्वार्थसाधन की दृष्टि से तो अवश्य ही ओछेपन का त्याग करना चाहिए।

मध्यमावस्था के मनुष्य का दूसरा उचित कर्तव्य यह है कि वह सर्वसाधारण को यह बात भली भाँति प्रदर्शित कर दे कि उसमें और युवा पुरुष में दो बातों का बड़ा भारी अन्तर है - पहली बात यह कि उसके बर्ताव में अवस्थानुसार सात्त्विक परिवर्तन हुआ है, और दूसरी. उसमें विलास-प्रियता की मात्रा दिनोंदिन घटती जा रही है। प्रौढ़ मनुष्य की चित्तवृत्ति शान्त और सुविचारमय होनी चाहिए। इस अवस्था में यदि मनुष्य विलास और आमोद-प्रमोद में मग्न रहा करे तो उसके प्रति लोगों का पूज्यभाव नष्ट होकर घृणा उत्पन्न होने लगती है और वह समाज में निन्दित हो जाता है। यह अवस्था ईश्वर-निर्दिष्ट अपने जीवन-कार्य को पूरा करने के लिए बनाई गई है। अतएव विलासादिक आलस्य-पूर्ण कामों को छोड़ कर यह समय सभी उत्तम कार्यों में

उत्साह के साथ लग जाने का है। उत्साहवृत्ति एक ऐसी चीज़ है जो मनुष्य की सभी अवस्थाओं में होनी चाहिये, क्योंकि इससे मनुष्य को सदा प्रसन्नता और सफलता प्राप्त होती हैं। पर इस मध्यमावस्था में तो हर एक कार्य में उत्साह टपकता रहना चाहिए क्योंकि यह अवस्था मुख्यत: कार्यकाल ही है, किसी काम में उदासीनता का गन्ध भी न होना चाहिए। स्मरण रहे कि मध्यमावस्था की यही उत्साह-वृत्ति यौवनकाल की चञ्चल तथा जोशीली उद्दण्ड वृत्ति से बिलकुल भिन्न है।

तरुण अवस्था व्यतीत किये हुए मनुष्य के लिए तीसरी आवश्यक बात यह है कि वह भविष्य पर समुचित ध्यान देकर वर्तमानकाल के कर्तव्यों में निमग्न रहा करे। सदा भविष्य पर ध्यान देने से और वर्तमान की उपेक्षा करने से जिस तरह हानि होती है, उसी तरह केवल संकुचित वर्तमान में फँस कर भविष्य के विषय में लापरवाही करने से भी बहुत हानि होती है। उक्त कर्तव्य का पालन ज्ञानचक्षु का सहारा लेने से सहज ही हो सकता है। इसका उपाय यही है कि सुखोपभोग के विषय में संयम का अभ्यास करे। तरुण अवस्था में मन विषयादि सुखों में स्वभावत: आसक्त होता है और एक बार विषयासक्त होने पर उसे विषयों से विरक्त करने के लिए बहुत परिश्रम करने पर भी सफलता की सम्भावना अधिक नहीं रहती। इसलिए स्थायी दु:ख देनेवाले क्षणिक सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न में न लगकर हमेशा ऐसे कार्य करते रहना चाहिये जिससे तत्काल में दु:ख मिलने पर भी निरन्तर सुख मिलने की अधिक आशा तथा सम्भावना हो। विषय-कानन देखने में बहुत सुहावना दीख पड़ता है पर इस

का परिणाम अत्यन्त भयप्रद है। इसके विस्तीर्ण प्रदेश में जो मनुष्य यथेच्छ सञ्चार करता है उसे आत्यन्तिक सुखों से अवश्य ही हाथ धो बैठना पड़ता है। इस अनुभव की सूचना हमें वे लोग निरन्तर दिया करते हैं जिन्होंने इस विषयारण्य में मनमाना विहार करके अपने जीवन को सर्वतोभाव से दुःखमय बना डाला है। उनके इस अनुभव से हमें शिक्षा अवश्य लेनी चाहिए।

तरुण अवस्था के बीत जाने पर प्रौढ़ अवस्था में हम जिस मार्ग में चलेंगे, जिस प्रकार अपना आचरण रखेंगे, उसी मार्ग और आचरण पर प्राय: हमारी कीर्ति, भाग्य, सुख और सफलता अवलम्बित रहेगी। इस अवस्था में हमें बहुत सा कार्य सम्पादन करना पड़ता है। इसी समय समाज और देश से हमारा बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है। समाज और देश की उन्नति करने का भार भी इसी समय में हम पर रहता है। इसलिए इस अवस्था का चौथा परम पवित्र कर्तव्य यही है कि हम अपने समाज और देश की त्रुटियों, आवश्यकताओं और उन्नति के साधनों का पूरी तरह से मनन करके अपनी शारीरिक मानसिक तथा साम्पत्तिक दशा के अनुसार उनकी भलाई के लिए अविश्रान्त उद्योग करें। ईश्वर ने हमें पुरुष बनाकर हमें जो 'कर्तृत्वशक्ति' देने का कष्ट उठाया है उसे वृथा न जाने देकर उसका सदुपयोग करने का यही समय है। बहुधा आलसी तथा अकर्मण्य मनुष्य अपने ऊपर के समाज तथा देश सम्बन्धी कर्तव्यों के भार को यह कह कर टाल दिया करते हैं कि "भाई, हम तो इस अनन्त सृष्टि में एक कीटाणु अथवा धूल के कण के समान हैं. हमारे समान शक्तिहीन, बुद्धि-हीन और द्रव्यहीन आदमी भला इतने बड़े समाज अथवा देश का

क्या हित कर सकते हैं।" परन्तु इस आलस्यपूर्ण अविचारवाद की असत्यता तथा पोलेपन को ढूँढने के लिए बहुत दूर नहीं जा-ना पड़ेगा। थोड़ा विचार करने पर मालूम हो सकता है कि यदि देश तथा समाज का अङ्गभूत प्रत्येक व्यक्ति इसी तरह से अनर्गल बातें बका करे तो सभी देशों और समाजों के सब कार्य तत्क्षण बन्द हो जायँगे और किसी देश या समाज में उन्नति न दीख पड़ेगी।

जब कि इस अवस्था में समाज और देश से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है तब यह जान लेना आवश्यक है कि समाज और देश के प्रति अनन्त कर्तव्यों में से हम किन किन का पालन कर सकते हैं। इसलिए समाज में जो बड़ी बड़ी घटनायें होती हैं उनके विषय में सदैव सचेत और सावधान रहना चाहिए। स्वदेश तथा समाज में नित्य जो अनेक हलचलें हुआ करती हैं उनके यथार्थ रूप को जानकर उनकी ओर उचित ध्यान तथा योग देने का अर्थात् पूर्णावस्था में सञ्चित सभी शक्तियों में दक्षता के साथ "अच्छे" के हेतु लगा देने का समय यही प्रौढ़ अवस्था है। मनुष्यों में जो स्वाभाविक समाजप्रियता तथा देशप्रेम दीख पड़ता है उस से यही अनुमान होता है कि जगन्नायक का कदाचित् यही नियम हो कि एक मनुष्य दूसरे की सहायता तथा भलाई करे। हम देखते हैं कि हमारे शरीर का प्रत्येक अङ्ग जब अपना अपना काम उचित रीति से करता है तभी हमारे शरीर के सब व्यापार भली भाँति होते हैं. पर जब उनमें से कोई अंग अपना नियत काम नहीं कर सकता तब देखा जाता है कि शारीरिक व्यापार किसी न किसी अंश में पंगु और अधूरा हो जाता है। इसी प्रकार जब समाज के सभ्यगण—जो कि समाज रूपी विराट् शरीर के अंग-

प्रत्यंग के समान हैं, अपनी योग्यतानुसार सब सामाजिक कामों को अर्थात् अपने अपने कर्तव्यांश को भली भाँति करते रहते हैं तभी उस समाज का सम्पूर्ण कार्य उत्तमता के साथ चलता रहता है पर ज्यों ही समाज का एक भी सभ्य कुविचार के वश होकर अपने कर्त्तव्यपालन में शिथिलता करने लगता है त्यों ही कुछ अंश में उस समाज का काम बिगड़ जाता है। अतएव जो बलवान् हैं वे शत्रुओं से समाज की रक्षा करें। जो विद्वान् हैं वे अपने समाज के सभ्यों को सुशिक्षित करें, कोई नई युक्तियों का आविष्कार करे, कोई अन्तरङ्ग व्यवस्था का प्रबन्ध करें, कोई जीविका-निर्वाह के नये नये समयोचित साधनों का पता लगावें, कोई परिश्रमजीवी मनुष्यों के लिए कामों को सुलभ करने का उद्योग करें इत्यादि। किसी भी सुव्यवस्थित समाज तथा देश में स्वामी-सेवक, स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, भाई-बहन, इष्टमित्र, राजा-प्रजा इत्यादि अनेक सम्बन्ध देखने में आते हैं। इन्हीं सब सम्बन्धों को योग्यतापूर्वक निबाह लेने से मध्यमावस्था की एक बड़ी जवाबदेही की पूर्ति होती है।

इस अवस्था में स्वार्थ, मत्सर, द्वेष, लोभ इत्यादि दुर्गुणों के लग जाने का बड़ा भारी डर रहता है। अतएव इन दुर्गुणों से बचना मध्यमावस्था के मनुष्यों का पाँचवाँ कर्तव्य है। मनुष्य की नीतिमत्ता तथा सज्जनता पर आक्रमण कर उसे नष्टभ्रष्ट कर देने के लिए घोर शत्रुओं की नाँई बड़ी तैयारी के साथ दुर्गुण और दुर्विकार सदा घात लगाये रहते हैं। इनके भीषण आक्रमणों से अपनी रक्षा कर लेना बड़ी चतुराई, आध्यात्मिक, साहस और सतर्कता का काम है। तरुण अवस्था में मनुष्य के सद्गुणों को लूट लेने के लिए विषय-विकार और युवावस्था का उन्माद जिस

तरह अपना फन्दा लगाये रहते हैं उसी प्रकार मध्यम अवस्था में मनुष्यों के बचे बचाये गुणों का हरण करने के लिए उपयुक्त दुर्गुण भी अपनी घात लगाए रहते हैं। इसलिए इस अवस्था में बहुत सावधान रहना चाहिए। निन्द्य स्वार्थपरायणता आदि दुर्गुणों के कारण मनुष्य में एक तरह का पाप-मूलक बावलापन आ जाता है जिससे उसके हृदय में उदारता, वत्सलता, सहिष्णुता, ममता आदि कोमल दैवी गुणों के लिए स्थान नहीं रह जाता, फलतः उस मनुष्य का 'मनुष्यत्व' सर्वथा नष्ट होकर उसमें केवल पशुता ही प्रधान रह जाती है। परन्तु जो मनुष्य अपने जीवन रूपी संग्राम में विजय पाकर यथार्थ में अपना मुख उज्ज्वल करना चाहता हो उसे उक्त दुर्गुणों से बचने का प्रयत्न अवश्य करना होगा।

बाल्य और तरुण अवस्थाओं में हमारी आयु का अंश कितना और कैसे बीत गया, उन अवस्थाओं में किस किस प्रकार की लाखों घटनायें हुईं आदि बातों का अर्थात् गतकाल की घटनाओं का कारण तथा परिणाम सहित मनन एवं विचार करना छठा आवश्यक कर्तव्य है। उन पर योग्य विचार करके हमें उनसे वह चतुराई सीख लेनी चाहिए जिससे हम अपनी शेष आयु को सुखपूर्वक स्व-पर-हित-साधन में लगा सकें। गतकाल के विषय में इस प्रकार से मनन करते समय हमें उस दयामय ईश्वर का धन्यवाद करना चाहिए जिसने हमें सुखपूर्वक रख कर सन्मार्ग का सेवन करने के लिए बार बार प्रेरणा की है और जिसकी निस्सीम कृपा से हम इस प्रौढ़ावस्था का सबेरा देख सके हैं। इसी प्रकार हमें हर एक बात में जिज्ञासा और तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बलवती होनी चाहिए। सर्व-

साधारण के आचार विचार तथा रूढ़ियों में हेरफेर, उनके रहनसहन में विलक्षण परिवर्त्तन, नवीनता के धाराप्रवाह में अनावश्यक प्राचीनता का लोप, जीवनकलह के साधनों की नित्य नूतन विषमता, विश्व की सदा परिवर्त्तन-शील गति आदि बातों की कार्य-कारण परम्परा और इतिहास का यथार्थ स्वरूप जानने का समय यही प्रौढ़ावस्था है। सच्चा स्थायी सुख और मानसिक शान्ति प्राप्त करने के लिए, सतत जिज्ञासा और यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति के सिवा कोई दूसरा साधन नहीं है इस लिए उसकी प्राप्ति का सदा उद्योग करते रहना चाहिए। स्मरण रहे कि वृद्धावस्था का हर्षपूर्वक स्वागत वही प्रौढ़ मनुष्य कर सकता है जिसने केवल वयोवृद्ध न होकर ज्ञानवृद्ध होने की तैयारी इस अवस्था में की हो।

मध्यमावस्था की ज़िम्मेदारियों की अधिकता के कारण तथा इष्टसिद्धि के लिए आवश्यक प्रतिद्वन्द्वता के कारण अधिकांश लोग अपने समाज में स्नेह और सहानुभूति सम्पादन करना या तो भूल जाते हैं या उसकी उपेक्षा कर बैठते हैं। पर बुढ़ापे में सन्मित्रों और सहायकों की बड़ी आवश्यकता रहती है। इसलिए मध्यमावस्था की उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है जब उस अवस्था के इस सातवें आवश्यक कर्त्तव्य—सन्मित्रसंग्रह—का उचित पालन किया जाय। शरीर-शक्ति के क्षीण तथा मन के उदासीन होने पर बुढ़ापे में सच्चे मित्रों और शुभचिन्तकों से जो सुख प्राप्त होता है वह अन्य उपायों से नहीं हो सकता। हमारा प्यार और आदर करनेवाले प्राणाधिक प्रिय मित्र ही हमारे दुःख और परिश्रम के हिस्सेदार हो सकते हैं। अपने खिन्न मन को प्रसन्न करने के लिए तथा विपन्न दशा को सुधारने के लिए ऐसे मित्रों को

अनेक प्रकार की चेष्टाएं करते देख कर, ऐसा कौन वृद्ध पुरुष होगा जो थोड़ी देर के लिए भी अपने दुःख को न भूल सके? "प्रसङ्गानुसार सहायता तथा प्रेम करनेवाले दुष्प्राप्य स्नेही सुदैववश मुझे प्राप्त हुए हैं" इस बात को सोचकर ऐसा कौन वृद्ध होगा जो क्षण भर के लिए अपने को धन्य न माने? सच-मुच ही ऐसे मित्र इस प्रपंचमय संसार के अमूल्य रत्न हैं। इनका यथासमय संग्रह करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को उद्योग करना चाहिए। तरुण अवस्था में ऐसे मित्रों के साथ उदारता और समता का वर्ताव करने से तथा मध्यम अवस्था में निष्कपट व्यवहार करने से उनका प्रेमभाव दृढ़ हो जाता है। अतएव ज्ञान-संग्रह के समान मित्र-संग्रह भी परम आव-श्यक है।

इस अवस्था का आठवाँ आवश्यक कर्तव्य अपनी जाय-दाद की उत्तम व्यवस्था करना है। जब तक यह प्रबन्ध न हो जाय, तब तक बुढ़ापे में सुख मिलना असम्भव है। लड़कों, बच्चों और कुटुम्बियों की शिक्षा और पालनपोषण का यथा-शक्ति प्रबन्ध करना हर एक संसारी मनुष्य का कर्तव्य है। इस कार्य को बुढ़ापे के लिए नहीं छोड़ देना चाहिए क्योंकि पहले तो बुढ़ापे तक पहुँचने में ही शङ्का रहती है और दूसरे बुढ़ापे में यदि ईश्वर की कृपा से पहुँच भी गये तो उस अवस्था के लिए भी बहुत से काम मौजूद रहते हैं। इस कर्तव्य की उपेक्षा का अन्त में यही शोकमय परिणाम होता है कि जिन लड़कों, बच्चों और अन्य कुटुम्बियों को हम अपने प्राण के बराबर प्रिय समझ कर सदा उनके सुख के लिए प्रयत्न करते रहे वे ही हमारी मृत्यु के अनन्तर हमारी थोड़ी सी ही असावधानी और विचारहीनता के कारण छोटी छोटी

बातों के लिए तरसते हैं और सदैव ठोकरें खाते फिरते हैं।

इस समय अपनी किसी अतिशय प्रीतिभाजन, स्वदेश, अथवा स्वजाति-हितकारी संस्था को भी कुछ रक़म दान, स्वरूप दे डालना चाहिए। इससे यश और पुण्य की प्राप्ति होगी, अपने देश-भाइयों का हित होगा और सहनशीलता का उज्ज्वल उदाहरण अन्य धनी लोगों के लिए पथ-प्रदर्शक होगा। इस बात को हम अपने अनुभव से जानते हैं कि बहुत से विचारशील और धनी मनुष्य इस तरह से परोपकार करने की दृढ़ इच्छा रख कर भी अपनी उस सदिच्छा को पूर्ण नहीं कर सकते। इसका कारण यह कभी नहीं हो सकता कि वे ऐसी संस्थाओं को कुछ रक़म देते समय हिचकते हों। नहीं, यह तो उनकी आन्तरिक इच्छा ही रहा करती है कि वे ऐसा काम कर डालें, परन्तु उसका सच्चा कारण यही है कि वे इस काम को अपने मृत्यु-समय के लिए रख छोड़ते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनके लिखे हुए वसीयतनामे को झूठा ठहराने के लिए उनके संकुचित हृदय वाले स्वार्थी रिश्तेदार मुक़द्दमेबाज़ी में हज़ारों रुपये नष्ट कर देते हैं। यदि ऐसा परोपकार का काम होशहवास के साथ जीते जी कर दिया जाय और क़ानून की सहायता से वह पुख़्ता बना दिया जाय तो अन्य स्वार्थी लोगों की दाल भी न गलने पावेगी। हज़ार रुपये व्यर्थ मुक़दमेबाज़ी में नष्ट होने से बचेंगे और ईश्वर के एक "सच्चे जीव" के "अन्तर्हृदय" की एक बड़ी भारी सदिच्छा अनायास पूरी हो जायगी।

मध्यमावस्था के मनुष्य का अन्तिम परन्तु सबसे उत्तम कर्तव्य आत्म-निरीक्षण का अभ्यास डालना है। इसके लिए

आजकल डायरी अथवा दैनिक कार्यों का रोज़नामचा लिखने के साधन का आश्रय लेने से बहुत कुछ लाभ हो सकता है। परन्तु शोक इसी बात का है कि जिस तरह लोगों ने पास में घड़ी रखने को "फ़ैशन" बना रखा है और जिस तरह सौ रुपये की भी घड़ी रखनेवाले अधिकांश मनुष्य समय की क़ीमत नहीं जानते उसी तरह की दुर्दशा और दुरुपयोग डायरी की भी होती दीख पड़ती है। डायरी का उपयोग केवल इतने से ही नहीं हो सकता कि उसमें यह लिख लिया जाय कि, "कल तारीख़ को दो रुपये का नमक ख़रीदना है, और एक पीपा मिट्टी का तेल लाना है, तथा आज के दिन दस आने टाँगे वाले को दिये गये।" उसमें अपने तथा अपने कुटुम्ब, जाति, समाज और देश सम्बन्धी उन उन सुखदुःखमय सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का भी यथावत् उल्लेख होना चाहिए जिससे हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध हो। अपनी रहनसहन तथा आचरण की उन त्रुटियों का तथा उन आवश्यक कर्तव्यों का भी दिग्दर्शन होना चाहिए जिनका भूल जाना सम्भव है। किसी से नई शत्रुता अथवा मित्रता हुई हो, विवाद अथवा बातचीत हुई हो, कुछ नई वस्तु देखने में आई हो, अथवा कुछ भ्रमणवृत्तान्त हो तो उसे संक्षेपतः लिख लेने से बड़ा भारी लाभ होता है।

ऊपर के संक्षिप्त निरूपण से पाठकों को यह भली भाँति मालूम हो गया होगा कि मध्यमावस्था के मुख्य मुख्य कर्तव्य क्या हैं और इस अवस्था का सदुपयोग करके मनुष्य जीवन-संग्राम में किस तरह से विजय प्राप्त कर सकता है। स्वाध्याय, पठन-पाठन, अनुसन्धान, अवलोकन, सद्गुणाभिरुचि, विद्या-प्रेम आदि भी इसी अवस्था के अन्य कर्तव्य हैं जिनकी उप-

योगिता हमारे विचारशील पाठकगण भलीभाँति जानते हैं। विस्तारभय से यहाँ पर उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। सारांश इस अवस्था में मनुष्य को वह सब काम कर लेना चाहिए जिससे आगे बुढ़ापे में उसे सच्चा सुख मिले* पर इस बात को एक क्षण मात्र के लिए भी नहीं भूलना चाहिए कि बुढ़ापे के साथ सुख भी आप ही आप चल कर नहीं आ जाता है। ऐसे होना त्रिकाल में भी असम्भव है। बुढ़ापे में सुख पाने के लिए हमें पूर्व अवस्थाओं में बहुत कुछ तजवीज़ करनी पड़ती है। उस समय यदि हम ऊँघते हुए हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहेंगे तो उसके परिणाम स्वरूप दुःख को कौन भोगेगा। इसी लिए परमज्ञानी भर्तृहरिजी ने बहुत ठीक कहा है —

> यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं, यावज्जरा दूरतो
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
> सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थात् जबतक मनुष्य का शरीर नीरोगता के कारण स्वस्थ रहता है, जबतक उसकी इन्द्रियाँ अपना अपना काम पूरे तौर से कर सकती हैं, जबतक उसे बुढ़ापा आकर नहीं घेरता है और जबतक उसकी आयु क्षयोन्मुख नहीं होती है तबतक पण्डित मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी ऐहिक तथा पारलौकिक भलाई के काम कर लेवे, क्योंकि घर में आग लग जाने पर उसे बुझाने के लिए तुरन्त ही कुआ खोदने का प्रयत्न मूर्खता और व्यर्थ है।

---

* "पूर्वे वयसि तत्कुर्यात् येन वृद्धः सुखं वसेत्"

१४ — सन्मित्र-संग्रह

पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटी करोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

भर्तृहरि*

मनुष्य एक सामाजिक जीव है । समाज से उसका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है । वह स्वाभाविक योग्यता सामर्थ्य और गुणों से पूर्ण होने पर भी अकेला अधिक कार्य नहीं कर सकता । उसे सदा किसी अन्य पुरुष या स्त्री की सहायता की, किसी न किसी रूप में, आवश्यकता रहती है । जब तक उसे यह सहायता नहीं मिलती, तबतक उस के अनेक मनोरथ अपूर्ण रह जाते हैं, उसके सांसारिक कार्य अधूरे पड़े रहते हैं, उसका सामाजिक जीवन नीरस हो जाता है और कभी कभी तो उसका बढ़ा हुआ उत्साह भी क्षीण हो जाता

---

* मित्र को पाप करने से वर्जित करे और उसके हित की बात का उसे उपदेश करे, उसकी गुप्त बात को छिपावे, गुणों को प्रकट करे, आपत्तिकाल में साथ न छोड़े और समय पड़ने पर यथाशक्ति द्रव्य भी दे, यह अच्छे मित्रों का लक्षण सन्तों ने कहा है ।

है । अतएव जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए ऐसी सहायता करनेवालों का संग्रह करना परम आवश्यक है । सांसारिक जीवन में ऐसी सहायता करनेवालों के साथ हमारे अनेक नाते हुआ करते हैं । इन नातों में से मित्र का नाता अत्यन्त पवित्र और श्रेष्ठ माना गया है । सच है, इस स्वार्थमय सृष्टि में मित्र के सिवा हमारा सच्चा सहायक कौन हो सकता है ? संकट के समय सम्पत्ति और सन्तति काम नहीं आती । ऐसे समय में हमें आश्रय देनेवाला और दुःखों में भाग लेनेवाला हमारे सच्चे मित्र के सिवा दूसरा कोई हो नहीं सकता । सच्चे मित्रों के मिलने से जो लाभ होते हैं उन का अनुभव वे भाग्यवान् मनुष्य ही कर सकते हैं जिन्हें कभी कोई सच्चा मित्र मिला हो । मित्रों के संग्रह करने से स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि होती है । सच्चे मित्रों के होने से संघशक्ति उत्पन्न होती है और संघशक्ति ही सफलता का सर्वोच्च साधन है ।

केवल परिचय अथवा बातचीत हो जाने से ही कुछ मित्रता नहीं हो जाती । मित्र शब्द का यदि व्यापक दृष्टि से विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि हमें समस्त जीवन में सच्चे मित्र दो चार से अधिक नहीं मिल सकते । "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" के न्याय से जब हम देखते हैं, तब यही ज्ञात होता है कि सच्चे मित्रों का मिलना इस संसार में अति दुर्लभ है । जबतक आचार-विचारों में सदृशता और एकता न होगी, तब तक दो मनुष्यों में एकप्राणता का होना असंभव है । मित्रता होने के लिए सत्हृदयता, सहिष्णुता और परस्पर सहानुभूति का होना अत्यन्त आवश्यक है । जब तक ऐसा न होगा तबतक सच्ची मित्रता कदापि नहीं हो सकती ।

परन्तु यह देखकर कि सच्चे मित्र संसार में बहुत कम होते हैं, हमें उदासीन नहीं होना चाहिए। समय पर सहानुभूति रखनेवाले परिचित सज्जनों की सहायता से भी संसार का बहुत कुछ काम बन सकता है। सब लोग जानते हैं कि सुवर्ण-मुद्रा एक बहुमूल्य वस्तु है, परन्तु इसके साथ ही कोई रुपये के महत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी तरह मित्र और अन्य साधारण परिचय के मनुष्यों में भी भेद है। हमें संघशक्ति बढ़ाने के लिए सदैव लोक-संग्रह करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए, और इसमें जब हमें कभी कभी मित्ररूपी रत्न मिल जाय, तो उसे चुन लेना चाहिए। पर मित्रों की चुनाई में विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है। जिस प्रकार सच्चे मित्र के होने से दुःख घटने और सुख बढ़ते हैं, उसी प्रकार नाममात्र के मित्रों से उलटा परिणाम होता है। सज्जन का यह कर्तव्य है कि किसी से मित्रता करके उसे आजन्म निभा ले। इसलिए इस चुनाई में भूल और धोखा नहीं होने देना चाहिए।

मित्र में जो लक्षण पाये जाने चाहिएँ उनका उल्लेख आरम्भ के श्लोक में किया गया है। जो मनुष्य इन लक्षणों से विहीन हो, वह सच्चा मित्र कभी नहीं हो सकता। हमारे धर्म-ग्रन्थों में मित्र और मित्रता के विषय में अनन्त उपदेश-पूर्ण उदाहरण भरे पड़े हैं। उनमें कहा है कि सज्जन की मित्रता दिनोंदिन बढ़ती और दुर्जन की घटती जाती है। सज्जनों के साथ सात शब्द बोलने से अथवा सात क़दम चलने से ही मैत्री हो जाती है और नित्य नूतन तथा आकर्षक होती है। परन्तु ऐसे सज्जन-मित्र प्राप्त करने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को होता है।

किसी से मित्रता होने के लिए सबसे आवश्यक बात उद्देश की एकता है। परन्तु यदि उद्देश अच्छे, न्याय और सत्यपक्ष के न हों तो उद्देश की एकता होने पर भी वह मित्रता स्थायी नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, चोरों की किसी मण्डली में या जुआरी लोगों के समूह में जो लोग सम्मिलित रहा करते हैं उनमें एक विशेष प्रकार का परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है। उन सबका उद्देश एक ही निन्द्य काम करने का होने के कारण, उसके सिद्ध होने तक वे सब एक मन से काम किया करते हैं। इष्टसिद्धि होने तक वे एक दूसरे की सहायता करते हैं और तभी तक उनमें परस्पर सहानुभूति भी पाई जाती है। यों ही ऊपरी तौर से देखने वालों को जान पड़ता है कि उन लोगों में ख़ासी मित्रता है। इसलिए उनके सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए वे लोग 'मित्र' जैसे पवित्र शब्द का प्रयोग कर दिया करते हैं, पर यहाँ वे भूलते हैं। सच्ची मित्रता में जो एक प्रकार का निष्काम प्रेम होता है वह उन लोगों में रत्ती भर भी नहीं रहता। मतलब के पूरा हो जाने पर उन लोगों का ऊपरी स्नेहभाव टूट जाता है। ऐसे मित्रों के समूह को मित्र-मण्डली न कह कर चण्डाल-चौकड़ी कहना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि मित्रता करके उसका आजन्म निर्वाह करना चाहिए। इसके लिए हमें निम्नलिखित कर्त्तव्यों का पालन सदैव करते रहना चाहिए:—

पहली बात यह है कि अपने मित्र के क्षुद्र दोषों के विषय में सहनशीलता और क्षमा की दृष्टि होनी चाहिए। इस संसार में कोई मनुष्य सर्वाङ्गपूर्ण और सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता। पहले पहल यदि कोई मनुष्य हमें वैसा जान पड़े

और अनुभव होते होते वह वैसा न पाया जाय तो उस में उसका कोई दोष नहीं है, दोष हमारी ही संकुचित दृष्टि का है । सकलगुणसम्पन्न, सर्वउपमायोग्य और सर्वथा दोष-रहित प्राणी इस मृत्युलोक में कैसे मिल सकता है? कोई मनुष्य कितना ही ज्ञानी और सदाचारी हो पर ढूँढनेवालों को उसमें भी कुछ न कुछ दोष मिल ही जाता है। यदि यह नियम सत्य है, तो हम जिस पुरुष के साथ मैत्री करते हैं, एकमात्र वही इस नियम का अपवाद कैसे हो सकता है? परन्तु युवावस्था के जोश में इस नियम पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता और बहुत दिनों के परिचित मित्रों में भी दोष-दृष्टि के कारण झगड़े हो जाया करते हैं। अतएव इस बात को भूलना न चाहिए कि यदि किसी मनुष्य में बहुत से उत्तम उत्तम गुण हों और कुछ छोटे मोटे क्षुद्र दोष हों तो भी वह लौकिक दृष्टि से सकल-गुण-सम्पन्न ही कहलाता है।

दूसरी बात मतभेद की है। यह अनन्त विश्व ऐसे सहस्रों रहस्यों से भरा हुआ है कि दो महाविद्वान् और परम मित्रों में भी किसी न किसी कारण से मतभेद हो सकता है। संसार की नित्यप्रति की घटनाओं में तथा इतिहास में इस बात के कई उदाहरण पाये जाते हैं कि विशेष प्रसंग पर मतभेद होने के कारण चिरकाल के मित्रों की मित्रता मिट्टी में मिल जाती है । एक ऐतिहासिक दृष्टान्त लीजिए । अठारहवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में फ्रांस देश में भयंकर राज्य-क्रान्ति हुई। इस विषय की चर्चा होते होते इंगलैंड देश के तत्कालीन दो बड़े बड़े नेताओं में मतभेद हो गया। ये दोनों नेता (अर्थात् बर्क और फ़ाक्स) उस समय के बड़े चतुर देशकाल के ज्ञाता और पूर्ण राजनीतिज्ञ तो थे ही, पर साथ ही एक दूसरे के गाढ़े

मित्र भी थे। जिन लोगों ने इंगलैंड का इतिहास पढ़ा है उनके नेत्रों के सामने इन प्रकाण्ड पण्डितों में उस मतभेद की भीषण मूर्ति साक्षात् आकर खड़ी हो गई होगी, जिसने इनकी चिरकालीन दृढ़ मित्रता को छिन्न भिन्न कर रसातल में पहुँचा दिया। माना कि फ्रान्स देश की राज्यक्रान्ति अनेक दृष्टियों से एक बड़ी महत्त्व-पूर्ण बात थी, पर क्या उसके विषय में मतभेद होते ही अपने चिरकालीन प्राणप्रिय मित्र की मित्रता को सहसा तोड़ देना बर्क जैसे सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी को उचित था? जो हो, ऐसी घटनाओं का होना अत्यन्त शोचनीय है। इसमें सन्देह नहीं कि विचार-स्वतन्त्रता और अपनी बुद्धि के अनुसार सच झूँठ का निर्णय करने की इच्छा से ही मनुष्य-जाति के जीवित रहने का सबूत मिलता है, अतएव मतभेद का होना स्वाभाविक है। हरएक विषय का विचार भिन्न भिन्न प्रकार से किया जा सकता है और उस पर विचार करनेवाले प्रत्येक मनुष्य का विचार-मार्ग अलग अलग रहता है, इसलिए मत-भेद टाला नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, बल्कि उसका होना अन्त में प्रायः लाभदायक ही सिद्ध हुआ है। परन्तु ऐसी अवस्था में भी केवल मत-विभिन्नता के कारण विकारवश होकर मित्रता का नाश कर डालना किसी 'मित्र' के लिए उचित नहीं कहा जा सकता।

सम्पादित मित्रता को बनाये रखने के लिए तीसरा आवश्यक कर्त्तव्य मन की सफ़ाई और बर्ताव की सरलता है। मित्र के पास कुछ ख़ास ख़ास बातों के सिवा अपने सब गुप्त कार्यों को बतला देने में कोई हानि नहीं। उसके मन में वृथा संशय उत्पन्न कर देने से अनर्थ होता है। यदि कभी मित्र के मन में संशय उपजानेवाला अथवा मतभेद करा देनेवाला

कोई काम हो जाय तो उसे अपना सच्चा अभिप्राय पहले से ही समझा देना चाहिए। नहीं तो परस्पर विश्वास घटने से रूखापन आ जाता है और भेद तथा तिरस्कार का भाव उत्पन्न हो जाता है।

मित्र के साथ सदा सौम्यता और उदारता का बर्ताव रखना चाहिए। बहुतेरे लोग मान लिया करते हैं कि एक बार मित्रता हो जाने पर मनमानी रीति से, बिना किसी रोक टोक के बर्ताव रखने में कोई हर्ज नहीं। पर यह ठीक नहीं है। हमें अपने मित्र के प्रति ऐसा आचरण रखना चाहिए जिससे उसे अपने विषय में बुरा न मालूम हो, किन्तु उसका स्नेह और आनन्द दिनोंदिन बढ़ता ही जाय। कुछ लोगों की सम्मति है कि सर्वसाधारण के साथ बर्ताव करने में किसी के मान-सम्मान, इज्ज़त, पद, योग्यता आदि बातों का विचार भले ही किया जाय किन्तु मित्र के साथ नहीं। परन्तु यह भी बड़ी भारी भूल है। अपने मित्र के साथ अनादर, उद्दण्डता, लापरवाही आदि का बर्ताव रखना तथा मर्मस्पर्शी वचन कहना सर्वथा अनुचित है।

इस संसार में द्वेषी मनुष्यों की कमी नहीं है। किसी की हानि किये बिना उनका पेट ही नहीं भरता। वे किन्हीं दो मनुष्यों की मैत्री को देख कर सहन नहीं कर सकते। ये लोग उनकी मित्रता को नष्ट कर देने के लिए उधार खाये बैठे रहते हैं और खरी खोटी बातें फैला कर और चुगली खाकर उनके मनको एक दूसरे के विषय में कलुषित कर देते हैं। अतएव मित्रों को ऐसे समय में बुद्धिमानी, सतर्कता और कार्यकारण-सम्बन्ध के ज्ञान के साथ काम करना चाहिए।

१५-धैर्य

"धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी । आपतिकाल परखिये चारी ॥"

—गोस्वामी तुलसीदास

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥ * भर्तृहरि
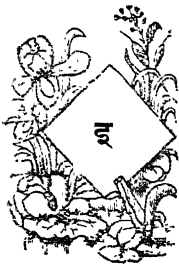
इस संसारमें सर्व-सुख-सम्पन्न कोई नहीं पाया जाता । प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी दुःख से दुःखी ही दीख पड़ता है । इस बात को कोई भी मनुष्य निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता है कि उस पर कभी कोई संकट न आवेगा अथवा वह निरन्तर आनन्द में ही रहेगा । सम्पत्ति, संतति तथा विषयोपभोग की पूरी सामग्री होने पर भी प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ न कुछ नई चिन्ता, आवश्यकता तथा आपत्ति बनी ही रहती है । संसार की नश्वर वस्तुओं को

---

* स्त्रियों के कटाक्ष-रूपी बाण जिसके चित्त को नहीं बेधते, क्रोध-रूपी अग्नि की आँच जिसके चित्त को नहीं जलाती और इन्द्रियों के विषयलोभ फाँसी में डालकर जिसके चित्त को नहीं खींचते, वही धीर पुरुष तीनों लोकों को जीतता है ।

पाकर जो मनुष्य अज्ञानवश यह आशा करता है कि उनसे उसे स्थायी सुखी मिलेगा, अथवा वे वस्तुएं उस पर आनेवाली आपत्तियों को टाल देने में सदैव समर्थ होंगी, उसे बारबार दुःखी और निराश होने का मौक़ा आता है। मनुष्य अपने जीवन में जिन शत्रुओं के विरुद्ध संग्राम करके विजय-सुख का लाभ करना चाहता है वे बड़े ही प्रचंड, भयंकर तथा विकट हैं। सिवा इसके, वे हर समय आक्रमण करने के लिए तैयार भी रहते हैं। अपने को सुखी तथा शक्तिसंपन्न देखकर इस बात का कभी विश्वास न करना चाहिए, कि शत्रु हम पर कभी आक्रमण ही न करेंगे। इस परिवर्तनशील संसार में सभी वस्तुओं और अवस्थाओं में परिवर्तन हुआ करता है। न जाने सुखी और बुद्धिमान् मनुष्य पर भी एका-एक कब संकट आ पड़े। पावस की ऋतु में किसी समय आकाश-मंडल अत्यन्त निर्मल और मेघ-रहित देखा जाता है, पर इतने ही से कोई इस बात को निश्चय के साथ नहीं कह सकता, कि अमुक समय तक कहीं पानी की बूँद भी नहीं बरसेगी। अकस्मात् आकाश की वह निरभ्रता नष्ट होकर चारों ओर घनघोर घटा छा जाती है, चारों ओर चंचल चपला के सिवा और कुछ नहीं दीख पड़ता, साथ ही मूसलाधार वृष्टि होने लगती है। हमारे इस मानवी प्रपंच-रूप अन्तरिक्ष की दशा भी ठीक ऐसी ही है। इसमें कुछ काल तक संकट के बादल यदि न दीख पड़ें, तो उससे यह मान लेना भूल से खाली कभी नहीं समझा जा सकता, कि सुख-किरणें उसमें सदा बनी रहेंगी। कौन कह सकता है कि दुःख के बादल उमड़ कर दूसरे क्षण ही संकट रूपी जल की मूसलाधार वृष्टि नहीं कर सकते।

जब यह बात निश्चित ही है कि मनुष्य-जीवन में संकटों का आना स्वाभाविक है, तब यह प्रश्न उठता है कि ऐसे सङ्कट के समय में क्या करना चाहिए? क्या किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर बड़े दुःखी और उदासी भाव से अपने कल्याण का मार्ग छोड़ देना चाहिए? कभी नहीं। यदि हमने वैसा ही किया तो फिर 'मनुष्य' की पुरुषार्थता कब सिद्ध होगी? ऐसे सङ्कटों के पंजे से जान बचाने के लिए जबतक धैर्य का आश्रय न लिया जायगा, तब तक विपत्तियाँ हमें दुःख देकर केवल नष्ट ही न करेंगी, बल्कि वे हमें चिढ़ाने को भी सदा तैयार रहेंगी। जो मनुष्य चाहता हो कि वह अपने कर्तव्य-कर्म भली भाँति किया करे, उसका काम बिना धैर्य के चल ही नहीं सकता है। विपदार्णव को पार करने के लिए धैर्य से बढ़ कर दूसरी नाव ईश्वर ने बनाई ही नहीं। मानवी जीवन-संग्राम में आगे कदम बढ़ाने के लिए और विघ्न तथा दुःखरूपी शत्रुओं के कठोर आघात सहन करने के लिए हमको धैर्य का ही कवच धारण करना चाहिए। स्मरण रहे कि धैर्यवान् का अर्थ साहसी नहीं है।

हमारे जितने उद्योग और प्रयत्न होते हैं, वे सब सुख की प्राप्ति के लिए ही हुआ करते हैं। यदि हमारा वह हेतु किसी अंश में धैर्य-गुण के आश्रय से सिद्ध हो सके, तो इस सुखप्रद सद्गुण का महत्त्व हमें अवश्य मानना चाहिए। दुःख और सङ्कट के समय चित्त को समाधान और सांत्वना देने के लिए धैर्य धारण करने के अतिरिक्त कोई दूसरी युक्ति ही नहीं है। ऐसी अवस्था में धैर्य के बिना शान्ति मिलना कठिन है, क्योंकि मानसिक दुर्बलता के कारण चित्त सदैव भयभीत बना रहेगा। धैर्य के अभाव में, कोई बात सचमुच उतनी

भयावनी न होने पर भी, काल्पनिक भयानुभव के कारण मन में सदा खलबली मची रहती है और जब मनुष्य संशय-ग्रस्त हो जाता है तब उसे दुःख के अभाव में भी दुःख का आभास हुआ करता है। जो मनुष्य धैर्यशील होता है उसकी दशा कुदिन के फेर में भी उतनी बुरी नहीं हो सकती जितनी धैर्यहीन की उसके सुदिन में हो जाती है। वह मनुष्य अपनी अच्छी धुन में शान्त-मनस्क हो कर लगा रहता है और आगे आनेवाली विपत्ति के भय से पहले ही घबरा नहीं जाता, किन्तु उसके आ जाने की शंका होने पर टालने का उपाय करता है। जिस मनुष्य में धीरज नहीं होता प्रायः उसी के "जले में नमक" छिड़का जाता है। इसके विपरीत धैर्यवान् मनुष्य का अंतःकरण शांति, सुख, आशा और उदारता से रहित कभी नहीं पाया जाता। जैसे समुद्र के भीतरी टीले पर जो सुदृढ़ दुर्ग बना रहता है, उसे उसके आस पास के जल की पर्वत तुल्य तरंगें थोड़ी भी हानि नहीं पहुँचा सकतीं। ठीक वैसे ही धैर्यवान् मनुष्य के चित्तरूपी दुर्ग को, प्रक्षुब्ध विपत्समुद्र की अत्यन्त भयावनी तरङ्गें कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकतीं। पर धैर्यहीन मनुष्य के चित्त की दशा समुद्र के किनारे की उस कुटी के सदृश है जो रेती पर बनाई गई हो, जो एक ही प्रचण्ड जलतरङ्ग से कंपित हो कर मिट्टी में मिल जाय। देखिए, इस श्लोक में धैर्यवान् पुरुष का कैसा उत्तम अलङ्कारपूर्ण वर्णन है:—

> कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणं प्रमार्ष्टुम्।
> अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥

अर्थात् विपद्ग्रस्त मनुष्य यदि धैर्यवान् हो तो उसकी धैर्यवृत्ति को कोई मिटा नहीं सकता, जैसे प्रज्वलित अग्नि

को यदि कोई उलट दे तो भी ज्वाला ऊपर को ही रहती है, नीचे को नहीं।

जीवन को सुख के साथ व्यतीत करने के लिए ही नहीं, बल्कि अपने कर्तव्य कर्मों का उचित रीति से सम्पादन करके विजय-प्राप्ति के लिए भी धैर्य की आवश्यकता होती है। कर्तव्य-पथ में विघ्न आ जाने पर डरपोक मनुष्य लोगों की अप्रसन्नता के डर के कारण अपने कर्तव्य को पूरा करने में आगा पीछा करता है और उनकी राय के प्रतिकूल कार्य करने का साहस नहीं कर सकता। फलतः वह किसी महत्त्व के काम को कर ही नहीं सकता। ज्यों ही उसे मालूम होता है कि अमुक काम के करने से—फिर उसका करना वह भले ही निश्चित कर चुका हो—मेरी लोकप्रियता के नष्ट हो जाने का डर है, अथवा ज्यों ही कोई अधिकारारूढ़ मनुष्य उस काम के लिए असन्तोष प्रकट करके उसे डाट फटकार बतलाता है, त्यों ही उसके देवता कूच कर जाते हैं। ऐसे ही समय में नीतिमत्ता और सिद्धान्त-प्रेम की अग्नि-परीक्षा होती है। ऐसे ही समय में धैर्यवान् पुरुष सङ्कटों की परवा न करके अपने सिद्धान्तों की रक्षा करता है और विचार-शक्ति की आज्ञा को छोड़ कर दूसरे किसी की आज्ञा नहीं मानता। किसी काम को करने के लिए उसका एक बार निश्चयमात्र हो जाना चाहिए, फिर उसे पूरा करने में एक नहीं हज़ार विघ्न भले ही आवें, वह उनके दबाव को कुछ नहीं समझता। वह अपने निज के और ईश्वर के भरोसे को छोड़ कर दूसरे किसी का तृण-तुल्य भी भरोसा नहीं करता। यहाँ तक कि कर्तव्य मार्ग में मनोदेवता के प्रोत्साहन के सिवा दूसरों की उत्तेजना की भी आशा नहीं करता। ऐसे महात्माओं को लक्ष्य करके ही

भर्तृहरि ने कहा है:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अर्थात् नीति जाननेवाले चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति, लक्ष्मी चाहे घर में बहुत सी आवे चाहे चली जाये और प्राण चाहे अभी जाँय चाहे कल्पान्त में, परन्तु धीर लोग न्याय का मार्ग छोड़ कर एक पग भी उससे बाहर नहीं चलते।

नीतिधर्ममय कर्तव्यपथ के इस तरह के कट्टर अनुयायियों की कीर्ति यदि संसार में अजरामर हो, तो इसमें अचम्भे और आश्चर्य की कोई बात ही नहीं है। पर इस तरह का सच्चा धैर्यवान् और गम्भीर-हृदय पुरुष वही हो सकता है, जिसे अपने नीति धर्म के सिद्धान्तों की सफलता, योग्यता तथा अच्छेपन पर पूरा पूरा विश्वास हो और जो अपने को उन पर बलि चढ़ा देने में भाग्यवान् समझता हो। रामचन्द्रजी, युधिष्ठिर, विक्रमादित्य, प्रताप, शिवाजी आदि महात्माओं का काम इतिहास में केवल उनके अचल सिद्धान्त-प्रेम के कारण चिरञ्जीव हुआ है। यही सांसारिक सफलताओं का रहस्य है। संसार में नेताओं का काम बड़ा ही सङ्कटपूर्ण रहता है, विशेषतः उन नेताओं का काम बड़ा ही कष्टमय होता है जो सच्चे समाज-सुधारक होते हैं। राजा राममोहनराय का उदाहरण लीजिए। उन्होंने समाज-सुधार का बीड़ा उठाया था उन्हें बिरादरी के लोग मनमाने खिझाते थे। यही नहीं बल्कि नवीन आवश्यकताओं को तथा समय के आदेश को न समझनेवाले पुरानी लकीर के फकीर समस्त हिन्दूगण

उन्हें समाजकंटक समझते थे। पर आज उसका नाम हिन्दू-जाति के हितैषियों की जिह्वा पर नाच रहा है। क्यों? इसी लिए कि उनका सिद्धान्त उत्तम और परार्थपूर्ण था। उस पर वे अपने प्राणों को न्योछावर करने की हिम्मत रखते थे। ऐसे ज्वलन्त उदाहरण इतिहास में, और वर्तमान समय में भी, अनेक पाये जाते हैं क्या ऐसे ईश्वरीय सिद्धान्त-प्रेम के मार्ग का निर्वाह होना धैर्य के बिना कभी सम्भव है?

जीवन-संग्राम में विजय और सफलता प्राप्त करा देने में धैर्य का बड़ा भारी भाग है। इसलिए अब यह देखना चाहिए कि इस सद्गुण का सम्पादन करने में किन किन बातों की आवश्यकता है। सबसे पहली आवश्यकता अदूषित मनो-वृत्ति और ईश्वर में दृढ़ विश्वास का होना है। जिसका मन विकारवश दूषित हो जाता है उसके चित्त में स्थिरता नहीं रहती। और मानसिक स्थिरता के न होने से इच्छा, उद्देश तथा सिद्धान्त क्षण क्षण में बदला करते हैं। परिणाम इसका वही होता है जो न होना चाहिए। जिसका मन दोषों और विकारों से चञ्चल हो जाता है, उसके मन में चञ्चलता के विरोधी धैर्य का निवास नहीं हो सकता। यहां पर पाठक यह आक्षेप कर सकते हैं, कि कई बार यह बात देखी जाती है कि अपने दुष्ट हेतुओं को सिद्ध करने के पीछे पड़े हुये कई पापावतार दुरात्माओं के मन भयभीत नहीं होते। इसका क्या कारण है? उचित तो यही है कि मनोवृत्ति दूषित होने के कारण उनमें चित्त की चञ्चलता दीख पड़नी चाहिए, पर उलटा उनमें चित्त की स्थिरता दीख पड़ती है। उत्तर में हम पाठकों को केवल यही बतलाना चाहते हैं, कि ऐसे लोगों में जो धैर्य पाया जाता है उसमें, और जिस धैर्य की इस लेख में

प्रशंसा की गई है उसमें, आकाश-पाताल का अन्तर है ऐसे लोगों को हम धैर्यवान् न कह कर साहसी अथवा राक्षस कहेंगे। इनमें जो धैर्य-सदृश वस्तु दीख पड़ती है वह प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि उसकी स्थिति नीति तत्त्वों के आधार पर नहीं होती। उसे हम धैर्य का नाम ही नहीं दे सकते, दुस्साहस अवश्य कह सकते हैं। ऐसे दुस्साहस का जन्म एक प्रकार की दुष्टतापूर्ण ढिठाई, आगे आनेवाली आपत्तियों की उपेक्षा और सब प्रकार के अविचार से होता है। ऐसे दुस्साहसी राक्षस कभी सफलमनोरथ नहीं हो सकते, अथवा यह कहना चाहिए कि इनकी सच्ची असफलता की माप इनकी दुष्ट इच्छाओं की सफलता में ही है।

दूसरी आवश्यक बात ईश्वर पर दृढ़ विश्वास का होना है। गाढ़े प्रसङ्ग पर धीरज को बनाये रखकर उसे बढ़ाने में ईश्वर-निष्ठा बहुत काम आती है। इस प्रकार का विश्वास हो जाने पर कि ईश्वर की कृपादृष्टि मुझपर बनी है, वह मेरा पूरा रक्षक है, सदाचारी मनुष्य को एक प्रकार की अवर्णनीय सहायता मिलती रहती है। ईश्वर भलेमानुस को ही चाहता है, मेरे इस अच्छे काम को वह किसी न किसी रूप से सहायता अवश्य ही करेगा, मेरे कठिन समय में वह मुझे कभी न भूलेगा, इत्यादि बातों पर दृढ़ विश्वास होने के कारण घोर आपत्तिग्रसित होने पर भी धैर्यशाली मनुष्य के चित्त की स्वस्थता भङ्ग नहीं होती। निस्सीम भक्तों का धैर्य भङ्ग होते कभी नहीं देखा गया। प्रह्लाद और द्रौपदी की कथा सबको मालूम है। सङ्कट के समय भक्तजन जब करुणाभरी पुकार से उसे पुकारते हैं, तब "कहु मुरली कहुं गिरा पितांबर" इस आतुरता के साथ भक्त की रक्षा के लिए दौड़कर आने-

वाला ईश्वर, अनन्य भाव से शरण में जानेवाले किसी भी और महान् पापी मनुष्य के लिए अवश्य आवेगा। हम जितने अंशों में प्रह्लाद या द्रौपदी हो सकेंगे, उतने ही अंशों में ईश्वर की सहायता के पात्र भी होंगे। ईश्वर की सहायता और सांसारिक सफलता उन्हीं लोगों को मिल सकती है, जिन्हें अपने नीतिधर्म और ईश्वर पर दृढ़ विश्वास रहता है। इतिहास में धर्मशील और कर्मवीर पुरुषों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। उन्होंने धर्म-नीति और सत्य की रक्षा के लिए हज़ारों दुःख और क्लेश सहे हैं, सङ्कट और दुःख के बोझ से कभी अपने मन को व्यग्र नहीं होने दिया और आवश्यकता होने पर अपने तन-मन-धन की आहुति देने तक की कभी नाहीं नहीं की है। यह सब मन में सदैव धर्मबुद्धि के जागृत रहने के सामर्थ्य का फल है। यह धर्मबुद्धि ईश्वर की दयालुता पर दृढ़ विश्वास रखे बिना कभी जागृत नहीं हो सकती।

जीवन-संग्राम में विजय की प्राप्ति के लिए धैर्य धारण करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को केवल एक बात की सूचना और देनी है। उसे उचित है कि वह अपने मन में मनुष्य की सच्ची प्रतिष्ठा और कीर्ति के कारणों को निश्चित कर रक्खे। बहुतेरे लोग माना करते हैं कि केवल द्रव्य अथवा अधिकार से सच्ची प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। पर यह भूल है। बहुत बड़े मूर्ख और नादान के पास भी सम्पत्ति पाई जा सकती है और उसे उच्च कोटि का अधिकार भी प्राप्त हो सकता है। इनके द्वारा कदाचित् हज़ारों मनुष्यों में एकाध बड़ी कठिनाई से प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। क्योंकि ये ऐसी मदान्धता उत्पन्न करनेवाली शक्तियाँ हैं कि जिन के मिलने पर मनुष्य बहुधा अपने आपको भूल कर इनका दुरुप-

योग करने लगता है। सदाचार और नैतिक तथा आध्यात्मिक योग्यता के द्वारा जो प्रतिष्ठा मिलती है वही सच्ची और चिरस्थायिनी होती है सदाचार वह आकर्षण मन्त्र है जिस के द्वारा शत्रुओं तक में हमारे लिए पूज्यभाव पैदा होता है। ऐसे धैर्यसम्पन्न सदाचारी मनुष्यों को किसी पारितोषिक की आवश्यकता नहीं रहती। इन्हें सुख और दुःख से हर्ष वा विषाद नहीं होता, केवल अपने उद्दिष्ट कार्य का ध्यान रहता है। यहाँ पर इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रतिकूल टीकाओं से अपने नीतिमय कार्य का त्याग कर देना एक शोचनीय कार्य होगा। दुष्ट लोग सभी की निन्दा करते हैं, अतएव वे धैर्यवान् मनुष्य की भी निन्दा उसके सदाचार और सिद्धान्त-प्रेम के कारण करें तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वे लोग उनके आचरण के रहस्य और योग्यता को समझ नहीं सकते। अतएव निन्दा करके ही अपनी योग्यता और असमर्थता का परिचय देते हैं। परन्तु विचारवान् लोग उनकी हज़ार मुख से प्रशंसा करने पर भी सन्तुष्ट नहीं होते। इन बेचारे निन्दकों को मनुष्य-जीवन का मूल्य विदित नहीं रहता। अतएव सच्चे धैर्यवान् मनुष्य को ऐसे निन्दकों के कठोर वाग्बाण से हतोत्साह नहीं हो जाना चाहिए।

१६—आदत अथवा स्वभाव

ज कल जहाँ देखो वहीं उन्नति की पुकार सुनाई देती है। भारतवर्ष की उन्नति के लिए सैकड़ों संस्थायें स्थापित की गई हैं। अनेक नेता भारतवर्ष की उन्नति के लिए प्राणपण से चेष्टा कर रहे हैं। इन सबका थोड़ा बहुत हितकर परिणाम भी अवश्य हुआ है। परन्तु, इतना किये जाने पर भी, भारतवर्ष की प्राचीन सुख-समृद्धि और गौरव की एक स्थायी झलक तक हमें दिखाई नहीं पड़ती। जब हम अपने गत-वैभव, विद्या, चातुर्य और कलाकौशल की ओर दृष्टि फेंकते हैं, तब हमें वर्तमान भारतवर्ष को देखकर मन्त्रमुग्ध और अवाक् ही हो जाना पड़ता है! तब मन में यही स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि हमारी इस अवनत दशा का कारण क्या है? इस पर बड़े बड़े विद्वानों ने, राजनीति-निपुण नेताओं ने और स्वदेश की दशा का विचार करनेवाले हितचिन्तकों ने जो उत्तर दिया है, उसका संक्षिप्त सारांश यही हो सकता है, कि इस देश में क्रमशः सत्य और उद्योग का ह्रास होता चला जाता है तथा लोकोपकार और धर्म का स्वरूप बिगड़ गया है। अर्थात् दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, कि हम पहले जो थे वे अब नहीं हैं। आज सभी लोग इस बात को एक स्वर से स्वीकार कर रहे हैं, कि पाश्चात्य

देशों की श्रेष्ठता तथा उन्नति उन्हें आश्चर्य में डाले देती है। इसका कारण ढूंढ़ने पर यही ज्ञात होता है कि उन राष्ट्रों का प्रत्येक व्यक्ति सतत उद्योग करके अपनी तथा अपने राष्ट्र की उन्नति में भाग लेता है। यदि हम लोग भी अपनी आदतों को बदल कर इसी तरह उद्योगी होने का प्रयत्न करें, तो हम भी उन्नति करके अपने प्राचीन स्थान को प्राप्त कर सकते हैं और इस मानव-जीवन की घुड़दौड़ में विजय लाभ कर सकते हैं।

हम मनुष्य को स्वभावों का एक समूह कह सकते हैं, क्योंकि उसकी दशा उसके स्वभावों का ही फल है। हमें अच्छी या बुरी आदतों के फलस्वरूप में सुख या दुःख मिला करता है। जीवन की सफलता अनेक अंशों में मनुष्य की अच्छी आदतों पर ही अवलम्बित रहती हैं। किसी काम को करने की या अन्य किसी बात की, आदतें सहज ही में पड़ती जाती हैं, परन्तु स्मरण रहे कि बुरी आदतें और भी अधिक सरलता से पड़ जाती हैं। पहले तो वे तुच्छ मालूम होती हैं परन्तु कुछ दिनों में उनका ऐसा अधिकार जम जाता है कि उनसे पिण्ड छुड़ाना असम्भव हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ नई आदतें तरुण अवस्था में ही लगती हैं। फिर चाहे वे अच्छी हैं या बुरी वे उसके आचरण में इतनी जम जाती हैं जैसे वे प्राकृतिक ही हों। बुरी आदतों के कारण जब कोई मनुष्य यह जान लेता है कि उसकी उपयुक्तता तथा मान घाट रहा है, तब वह उन्हें छोड़ने का प्रयत्न करता है, परन्तु वह ऐसा कर ही नहीं सकता और बहुधा उसमें उतनी हिम्मत भी नहीं रह जाती। यह सचमुच सुख पाने की इच्छा है तो अच्छी और उत्तमोत्तम आदतें ही क्यों न डाली जायँ?

इस बात का भय थोड़ा भी न रखना चाहिए, कि अच्छी आदतें कैसे पड़ेंगी। अच्छी आदतों का लगाना उतना कष्टदायक और श्रमसाध्य नहीं है जितना मान लिया जाता है। देखिए, एक समय में एक ही काम करने की आदत पड़ने पर उस काम में प्रीति उत्पन्न हो जाती है और कुछ दिनों तक इसी क्रम से काम करते रहने पर कष्ट का मालूम होना बन्द हो जाता है तथा आनन्द मालूम होने लगता है। इसी तत्त्व के अनुसार आचरण करने से हम अपनी बुरी आदतों को भी कुछ प्रयत्न करने पर छोड़ सकते हैं। विद्यार्थियों को ही क्यों, मनुष्य मात्र को भी अपने जीवन-संग्राम में विजय की प्राप्ति तथा कल्याण के लिए कुछ विशेष आदतें अवश्य बना लेनी चाहिएँ। यहाँ कुछ ऐसी विशेष आदतों का और उन्हें अपने जीवन में व्यावहारिक बनाने के उपायों का वर्णन किया जाता है जिनसे मनुष्य अपने जीवन को सार्थक कर सकता है।

१—प्रत्येक दिन के कार्यक्रम का निश्चय पहले ही से कर लो।

यह निश्चय पहले दिन सायंकाल के समय कर लेना चाहिए और दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर उसीके अनुसार काम करने में तुरन्त लग जाना चाहिए। इस तरह काम करने पर इस बात को देख कर आश्चर्य होगा कि एक दिन में कितना कार्य पूरा हो जाता है। अनिश्चित और अव्यवस्थित रीति से काम करने पर दो दिन में भी उतना काम नहीं हो सकता जितना कि निश्चय के साथ एक दिन में और उत्तमता के साथ हो जाता है। सिवा इसके अनिश्चित और मनमानी रीति से काम करने में यह नहीं मालूम होता कि हमने दिन भर में क्या किया। निश्चित क्रम से काम करने में यह भी लाभ होता है कि चद्दर के बाहर पैर

फैलाते ही न बनेगा। प्रति दिन की आवश्यकता और मर्यादा के बाहर जाना न हो सकेगा। आरम्भ में आदत न होने के कारण अथवा किसी अचानक बाधा के कारण निश्चय के अनुसार काम न हो सकेगा, पर इससे निराश नहीं होना चाहिए। यदि एक दिन का निश्चित काम उसी दिन पूरा न हो और इसमें केवल तुम्हारा ही दोष हो तो इसके लिए अपने आपको अपराधी ठहराकर पश्चात्ताप ही न करना चाहिए किन्तु भविष्य में ऐसा न होने देने का प्रयत्न भी करना चाहिए।

२—निरन्तर परिश्रम करते रहो।

यदि दुर्भाग्यवश तुम्हें ऐसा मालूम होता हो कि तुम "अचानक बुद्धिमान्" हो और सभी वस्तुएँ तुम्हारे पास आप ही आप आ जावेंगी, तो अच्छा होगा कि तुम अपनी इस समझ को शीघ्र ही छोड़ दो। इस बात की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लो कि जो कुछ तुम्हें मिले उसकी क़ीमत तुम्हारा परिश्रम ही हो। कुछ भी पाने के लिए इसी द्रव्य का व्यय करना चाहिए। हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि प्राचीन काल के लोग बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डालते थे, परन्तु इसकी कुञ्जी केवल निरन्तर उद्योग अथवा परिश्रम ही है। जो मनुष्य प्रति दिन तीन घण्टे वेग से चलेगा वह सात वर्ष में इतना चल सकता है जितनी इस पृथ्वी की परिधि है। निरुद्योगी होने के समान दूसरी बुरी स्थिति नहीं है और न कोई दूसरी बुरी आदत ही है। फिर भी ऐसी दूसरी कोई आदत नहीं है जो इसके समान सरलता से लग तो जाय परन्तु छोड़ने से कभी न छूटे। निरुद्योगी मनुष्य शीघ्र ही मलिन, नीच और आलसी हो जाता है और उसका स्वभाव रेड-इण्डियन

(हिन्दुस्तानी कहने से भी काम चल सकता है !) लोगों के समान हो जाता है। वह समझता है कि "दौड़ने की अपेक्षा चलना अच्छा है, चलने की अपेक्षा खड़ा रहना अच्छा है, खड़े रहने की अपेक्षा बैठना अच्छा है और बैठने की अपेक्षा पड़े रहना अच्छा है।" बहुत से मनुष्य अनेक कार्यों में लगे रहकर भी सचमुच परिश्रमी नहीं होते। ऐसे मनुष्य वही होते हैं जो अपने कर्तव्यों की उपेक्षा कर अपनी मूर्खता छिपाने के लिए व्यर्थ का कार्यभार उठा लेते हैं।

उद्योगी और परिश्रमी मनुष्य को अवकाश भी अधिक मिला करता है क्योंकि वह अपने समय का उचित विभाग कर लेता है। निश्चित कार्य यथासमय पूरा होने पर उसे फ़ुरसत मिल जाती है। सरांश यह है कि उत्कृष्टता और श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए उद्योग करने की ही आवश्यकता है। "उद्योगी मनुष्य को एक ही भूत सताता है, परन्तु निरुद्योगी को सैकड़ों भूत सताते हैं।" विचार करने की बात है कि हम यदि प्रतिदिन का कार्य क्रम निश्चय करके उसे समय पर पूरा करना सीख जायँ तो न जाने हम कितनी दुष्ट संगति, कुकर्म-प्रवर्तक बन्धन और अपनी इज़्ज़त को हानि पहुँचानेवाले तथा शुभचिन्तकों को असन्तुष्ट करने वाले प्रसंगों से अनायास बच सकते हैं।

३—कार्य के पूरा होने तक उसमें दृढ़ता से लगे रहो।

एक ही अभ्यास तथा एक ही संकेत में वर्षों तक मनो-निग्रह के साथ पूरा होने तक लगे रहना चाहिए। कोई मनुष्य ऐसे होते हैं, कि वे जब कहीं यह पढ़ते सुनते हैं कि अमुक मनुष्य ने इस रीति से उद्योग किया और उसे उत्तम सफलता मिल गई, तो वे भी वैसा ही करने का इरादा करते

हैं। बिना विचार के वह काम शुरू कर दिया जाता है और वे लोग अपने काम की बड़ी प्रशंसा भी करते हैं। कुछ दिनों के बाद वे उसे छोड़ देते हैं और किसी दूसरे काम में लग जाते हैं। एक विद्यार्थी अपनी उन्नति करना चाहता था, उसने किसी ग्रन्थ में पढ़ा कि किसी एक महात्मा तथा विद्वान् पुरुष ने अपने दरवाज़े पर "कालो गच्छति जल्पतां प्रतिदिनं" लिख लिया था। इसे पढ़ कर उसने भी अपने दरवाज़े में बड़े बड़े अक्षरों में वैसा ही लिख लिया। फिर उसने पढ़ा कि एक महाविद्वान् पुरुष तुलसीदास की बड़ी प्रशंसा किया करता था। झट उस विद्यार्थी ने अन्य सब कुछ छोड़कर तुलसीदासजी के टीका सहित ग्रन्थों को ख़रीद डाला और वह उन्हें बड़ी उत्सुकता से पढ़ने लगा। कुछ दिनों के बाद उसे सुन पड़ा कि एक बुद्धिमान् मनुष्य ने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है वह केवल सम्भाषण के ही द्वारा किया है। तुरन्त उसकी यह इच्छा हुई कि तुलसीदासजी के ग्रन्थों को एक ओर रखकर सम्भाषण के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बस, उसने एक घरसे दूसरे घर और एक मनुष्य से दूसरे के पास जाना तथा सम्भाषण करना आरम्भ कर दिया। इस तरह से जो बार बार अपना इरादा बदलते रहते हैं और दस पाँच दिनों में कुछ न कुछ नया कार्य आरम्भ किया ही करते हैं, उनका समस्त जीवन निरर्थक हो जाता है। जो मनुष्य दो आवश्यक कर्तव्यों में सदा इसी बात की शङ्का रखता है कि पहले किसे करना चाहिए, वह उनमें से एक को भी पूरा नहीं कर सकता। उस मनुष्य से कोई भी महत्त्व पूर्ण अथवा बड़ा काम नहीं हो सकता; जो पूरे विवेक के साथ अच्छा काम करने का निश्चय ही नहीं किन्तु आरम्भ

भी करके अपने किसी स्नेही के कहने से अपने उस निश्चय को बदल सकता है। इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि उद्देश अच्छा होने पर भी आज का काम कल करने की आदत डालने से वह काम पूरा नहीं हो सकता, सिवा इसके अप्रत्यक्ष रीति से तुम्हारा जो नुकसान चरित्रगठन की दृष्टि से होगा वह अलग है। तुममें किसी काम को आज न करके उसे डालने की आदत पड़ती जायगी। कार्यपूर्ण एक दिन इच्छापूर्ण सप्ताह से बढ़ कर है।

(४) समय पर काम करने की आदत डालो।

प्रत्येक मनुष्य समय पर काम करनेवाला हो सकता है, पर जिस तरह से होना चाहिए वैसे सब नहीं होते। थोड़ी सी देरी करके सब काम करते जाना सहज है, परन्तु ठीक समय पर काल-नियम के अनुसार काम करना उतना सहज नहीं है। नियत समय पर काम करनेवाले मनुष्य का काम दूसरों से दुगना हो जाता है और उसे सुभीता तथा संतोष भी दुगुना होता है। जो लोग काम को समय पर पूरा न कर के उसे टाल दिया करते हैं उनकी भाषा ऐसी होती है:— "मुझे इस काम के करने में बहुत देरी हो गई परन्तु ऐसा केवल एक ही बार हुआ है। मैंने आज का काम समय पर नहीं किया परन्तु ऐसा एक हो बार हुआ है।" एक बार किसी काम का अमुक समय तक कर डालने का निश्चय हो जाय, तो उसे पूरा करना ही चाहिए। अत्यन्त खेद, शोक और लज्जा की बात है कि हम भारतवासियों में कालातिक्रम करने की बड़ी बुरी आदत पड़ गई है। किसी से मुलाकात करने जाओ तो भेंट होने में ही दो चार घंटे अथवा कभी कभी दिन लग जाते हैं। समय का मूल्य न जानने के कारण

दस पाँच घंटो की कुछ कीमत ही नहीं समझी जाती। जातीय निमन्त्रणों में, पञ्चायतों में और सभा आदि के व्याख्यानों में इस बात का अच्छा उदाहरण मिलता है। किसी के घर चार बजे का समय निमन्त्रण में निश्चित होता है और यदि सब लोग सात बजे तक भी हाज़िर हो जायें तो गृहस्वामी को यह समझना पड़ता है कि उसका भाग्योदय होगया। अपने तथा दूसरों के समय के महत्त्व को न जानना ही भारत की अवनति का विशेष कारण हुआ है।

(५) प्रातःकाल जल्दी सोकर उठो।

प्रातःकाल जल्दी सोकर उठने से कई लाभ होते हैं। जितने दीर्घायु तथा विख्यात पुरुष हो गये हैं वे सब बहुधा सूर्योदय के पहले प्रातःकाल ही उठा करते थे। देरी से उठने में अपने कार्यों के आरम्भ करने में भी देरी होती है फिर उस दिन का सब कार्यक्रम बिगड़ जाता है। दिन भर काम करते रहने पर भी सब काम रात तक पूरा नहीं हो पाता। कीर्ति और सफलता लाभ करने के लिए प्रातःकाल का उठना अत्यावश्यक है।

जल्दी उठने के लिए जल्दी सोना आवश्यक है। जल्दी सोने से दृष्टि मन्द नहीं होने पाती और शरीर आरोग्य रहता है, क्योंकि रात्रि का पूर्वांश ही सोने का प्राकृतिक समय है। इतिहास में कई राजाओं का हाल देखने से मालूम होता है कि वे द्रव्य ख़र्च करके प्रातःकाल उठने के लिए प्रबन्ध करते थे। आजकल उस तरह से नौकर रखने की आवश्यकता नहीं। जबतक यह आदत न पड़ी हो तबतक नौकर का काम "अलार्म" वाली घड़ी दे सकती है। जो मनुष्य अपना

उद्धार कर कीर्तिलाभ करना चाहता हो उसे अवश्य ही जल्दी उठना चाहिए।

(६) जिस मनुष्य से भेंट हो उस से कुछ न कुछ उपदेश सीखो।

यह काम प्रायः सब मनुष्य किया करते हैं, परन्तु इसकी आदत डाल कर और महत्त्व समझ कर नहीं। संसार में जिस तरह से आँखें खुली रखने की आवश्यकता है, उसी तरह से कानों को भी खुला रखना चाहिए। हर एक वस्तु, हरएक काम, हरएक मनुष्य और संसार की हर एक स्थिति से कुछ न कुछ ज्ञान सीखा जा सकता है। इस आदत से कुछ वर्षों में ही तुम चतुर और भलेमानस हो सकते हो।

(७) जो कुछ विचार या काम करो उसके लिए तुम्हारे पास दृढ़ सिद्धान्त होना चाहिए।

किसी काम को करने के पहले उसके आदि-अन्त और हानि-लाभ का पूरा पूरा विचार कर अन्तिम निर्णय कर लेना चाहिए। जब तुम्हारा यह निर्णय किसी कसे हुए सिद्धान्त के अनुकूल हो, तो कार्यारम्भ करने से अवश्य लाभ होगा। सफलता उस मनुष्य को नहीं मिलती जिसका कोई भी काम सिद्धान्तरहित हो। सिद्धान्त बनाने में या सीखने में जल्दी न करनी चाहिए। जल्दी करने से उत्तम विचारशक्ति होने पर भी चूक हो सकती है। सिद्धान्त दृढ़ रीति से पूरे विचार के साथ निश्चित हो जाने पर आवश्यकता हो तो उसके लिए प्राण देने को भी सहर्ष तैयार हो जाओ।

(८) अपने व्यक्तिगत आचरण में अर्थात् अपने शरीर तथा वस्त्र के सम्बन्ध में सादापन और स्वच्छता रखो।

शरीर आत्मा का केवल निवासस्थान या घर है इस लिए उसका अधिक गर्व मत रखो। जैसे कोई उत्तम गृहस्थ अपने

घर के बाहर भीतर आवश्यक सफ़ाई रखता है, उसी तरह पहनने के कपड़ों को भी सादा और स्वच्छ रखना चाहिए। हमें चिन्ता इस बात की नहीं होनी चाहिए कि "मैं कितनी बार नये कपड़े बनवा अथवा ख़रीद सकता हूँ" परन्तु इस बात को होनी चाहिए कि "मैं एक बार उसे पाकर कितने समय तक अच्छा सुरक्षित रख सकता हूँ"। केवल वस्त्रों की उत्तमता पर ध्यान देने में जीवन की सार्थकता नहीं है।

दाँतों की स्वच्छता पर विशेष सावधानी रक्खो। सोकर उठते समय और सोते समय उन्हें किसी दंतमञ्जन, राख अथवा दतून से साफ़ कर लेना चाहिए। उससे दाँत बुढ़ापे तक काम दे सकेंगे। शरीर के केवल इसी अङ्ग पर विशेष ध्यान देने के लिए कहने का कारण यही है कि दाँतों के अस्वच्छ होने से दुर्गन्धयुक्त श्वास निकलता है, दाँतों और जबड़ों में वेदना होती है, अन्न का ठीक चर्बण न होने से आरोग्यता नष्ट होती है और फिर दाँत गिर पड़ने पर कोई उपाय चल नहीं सकता है।

(९) कुछ भी काम करो, उसे अच्छी तरह से उत्तमता के साथ पूरा करो।

किसी भी काम को पूरे दिल से करना चाहिए, नहीं तो वह उत्तमता से कभी नहीं होगा। हम लोगों में एक यह बुरी आदत है, कि प्रश्न करते समय हम पूछा करते हैं "उसने अमुक काम को कितने समय में किया ?" ऐसा न कहकर प्रश्न यह होना चाहिए कि "उसने अमुक काम को कितनी उत्तमता के साथ पूरा किया ?" जो काम किये जाने का है उसे अच्छी तरह से ही करना चाहिए। कोई कह सकते हैं कि इस तरह से काम थोड़े समय में पूरा नहीं होगा। परन्तु

पहले ही से अच्छी तरह से काम करने की आदत डालने पर हस्त-कौशल बढ़ जाता है और वह काम भी जल्दी पूरा हो जाता है। एक यूनानी कवि यूरिपिडीस प्रतिदिन कविता की तीन पंक्तियाँ बनाता था। उसके समय का एक अन्य कवि प्रतिदिन तीन सौ पंक्तियों की काव्यरचना किया करता था कहने की आवश्यकता नहीं कि आज उस थोड़े, परन्तु पूरे दिल से सरस काम करने वाले कवि की कविता ही जीवित है।

१०—अपनी मनोवृत्तियों को अपने अधीन रखने का यत्न करो।

संसार का उच्च स्थान उस मनुष्य को नहीं मिल सकता जिसकी वृत्तियाँ उसके अधीन नहीं हैं। इन्हें वश में रखना सहज काम नहीं। जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को जीत सके वही सच्चा शूर और विद्वान् है। बहुत से मनुष्य बाहर तो उत्तम व्यवहार रखते हैं, परन्तु अपने घर में तथा मित्रों के साथ नहीं। इसके लिए शुद्ध और खुलेदिल होने की आवश्यकता है। यदि बचपन से कोई मनुष्य पाशविक मनोवृत्तियों का दास हो गया हो तो उसे होश आने पर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए।

अपनी वर्तमान स्थिति में सन्तुष्ट होना चाहिए। बहुधा मानसिक दुःख अतृप्ति से उत्पन्न हुआ करते हैं। इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि सर्वज्ञता और सार्वभौमता ईश्वर को ही मिल सकती है। मन के लड्डू खाने और वृथा मनोरथ के किले बनाने से अस्वस्थता और खेद होता है। यह आदत नाशकारी है। इससे दुर्लभ आशा के विफल होने पर जब नशा उतर जाता है तब महान् दुःख और पश्चात्ताप होता है। कल्पना की लगाम को सदा हाथ में रखना चाहिए।

११—अचूक निर्णय-शक्ति और तारतम्ययुक्त विचारशक्ति का सम्पादन करो।

लाखों में एकाध मनुष्य ऐसे भी हैं जो किसी से एक बार मिलने पर उसकी योग्यता की माप कर सकते हैं। ऐसा विरला ही समालोचक होता है जो किसी पुस्तक के दो चार पृष्ठ उलट कर उसका पूरा गुण दोष बतला सके। जब किसी मनुष्य अथवा ग्रन्थकार के विषय में मन में द्वेष अथवा विरोध पैदा हो जाता है तब उसे हटा देना कठिन हो जाता है। इससे मन में पक्षपात उत्पन्न हो जाता है और हमारा निर्णय दोषपूर्ण रहता है। न्यायी और शुद्ध बुद्धि का मिलना ईश्वर की एक विशेष कृपा है, फिर सभी कामों में उसे निष्पक्ष होकर रख सकने की स्थिरता का होना और भी महान् भाग्यवानों में पाया जा सकता है।

१२—कुटुम्बियों; मित्रों और साथियों के प्रति योग्य रीति से बर्ताव रक्खो।

इन लोगों से घर में नम्र और आकर्षक आचरण के द्वारा तथा बाहर जाने पर चिट्ठी पत्री के द्वारा स्नेह-सम्बन्ध स्थिर रखना चाहिए। किनसे किस तरह से पेश आना चाहिए इसकी आदत बना लेनी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कभी नये मित्रों से अति-परिचय के कारण प्रेमभाव कम होकर स्नेहसम्बन्ध क्षीण होजाता है। अतिपरिचय से हम उसके दोषों को देखने लगते हैं और बड़े गुणों के महत्त्व को भूल जाते हैं।

प्यारे विद्यार्थियो, ऊपर जिन आदतों का वर्णन किया गया है उन्हें ग्रहण कर कुटुम्ब, जाति, समाज, और देश का उद्धार करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है।

भारतवर्ष को इस निकृष्टावस्था से ऊपर उठाने की इच्छा रखनेवालों को तथा जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने की इच्छा रखनेवालों को इन आदतों का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। इससे हमें उत्पन्न करने का ईश्वरीय हेतु पूरा होगा और हम सांसारिक तथा पारलौकिक सुख के योग्य अधिकारी हो सकेंगे।

१७ – उद्देश और कार्य-प्रणालीमें मौलिकता

जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के बहुत से उपाय बतलाये जा चुके हैं। एक लेख में स्वावलम्बन की भी आवश्यकता सिद्ध की गई है। आज हम यह बतलाना चाहते हैं कि उद्देशों और कार्य करने की पद्धतियों में नवीनता और मौलिकता हुए बिना सफलता की सम्भावना कम रहती है, तथा स्वावलम्बी वृत्ति के बढ़ाने में सदैव बाधा उपस्थित हुआ करती है। अतएव इस हेतु को सिद्ध करने के लिए अन्ध-अनुकरण-शीलता तथा निरन्तर अनुकरण-शीलता का त्याग करना चाहिए। केवल नकल न करते रह कर कुछ नया मार्ग ढूँढ निकालना चाहिए। ऐसा होना तभी सम्भव है जब हम कुछ विशेषता प्राप्त करें। चाहे हम बज़ाज़ी करें, वकालत करें, मज़दूरी करें, गम्भीर वक्ता बनें अथवा जो कुछ करें परन्तु जब तक हमारे काम करने की पद्धति में कुछ विशेषता, नवीनता और मौलिकता न होगी तबतक हमारी साधारण योग्यता पर लोगों का ध्यान आकर्षित न होगा। जबतक किसी व्यक्ति का नाम उसके कार्य के सम्बन्ध में लाखों मनुष्यों की जिह्वा पर न नाचेगा तबतक वह कोई विशेष महत्त्वपूर्ण काम नहीं कर सकता। यह केवल विशेषता प्राप्त करने से साध्य हो सकता है। अपनी कार्य

शैली में थोड़ी सी विशेषता प्राप्त कर लेने पर अनन्त द्रव्यो-पार्जन कर सकना, चिरंतन यश लाभ कर सकना और संसार का स्थायी लाभ कर सकना भी सम्भव हो सकता है।

मौलिकता—किसी काम को आरम्भ करने के पहले तनिक सा विचार कर लेना—जिस दर्जे तक रहेगी उस दर्जे तक सफलता कैसे मिल सकती है, इसका एक अच्छा उदाहरण है। किसी समय विलायत में पीतल की घड़ी बनानेवाला एक बड़ा नामी घड़ीसाज़ था। वह वहाँ की जनता में सदा अपना नाम बनाये रखने के लिए अपनी बनाई घड़ियों में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य करता रहता था और उसकी सूचना समाचार-पत्रों में दे दिया करता था। उसमें इतनी योग्यता न थी कि वह कुछ नया आविष्कार कर सके, पर वह अपने पुराने साँचे में कुछ सुधार अथवा रूप-परिवर्तन किये बिना नहीं रहता था। कभी काँटे बदल दिये जाते थे, कभी आकार ही बदल दिया जाता था, कभी घड़ियों में लाल के बदले हरा रंग चढ़ा दिया जाता था, कभी घड़ियों में केवल सादेपन से काम लिया जाता था कभी उनमें कुछ आकर्षक चित्र रख दिये जाते थे, कभी घड़ियाँ आवाज़ दिया करती थीं, इत्यादि। इन बातों का समय समय पर विज्ञापन देकर उसने अपनी थोड़ी सी बुद्धि-विशेषता से हज़ारों ग्राहक पैदा कर लिये और वह विलायत का एक प्रसिद्ध घड़ीसाज़ कहलाने लगा। न तो उसने कुछ नूतन आविष्कार किया और न वह पुराने आविष्कारों में कुछ विशेष सुधार ही कर सका, परन्तु थोड़ी सी मौलिकता के कारण उसने बड़ा यश और द्रव्य कमाया। जी लगाकर काम करने से ऐसा होना सहज है।

अपने व्यवसाय और योग्यता की उन्नति तथा वृद्धि करने में संकीर्णता और अन्धपरम्परा से बहुधा घातक परिणाम हुआ करते हैं। वर्तमान समय की, बल्कि थोड़ा बहुत भविष्य की भी, आवश्यकताओं और आदेशों को ध्यान में रखे बिना कार्यसिद्धि कभी हो नहीं सकती। आजकल विज्ञान, बुद्धि-चातुर्य और भयङ्कर प्रतिद्वन्द्विता का युग है। अब वे दिन नहीं रहे जब मनुष्य लकड़ी का एक छोटा सा जीर्ण शीर्ण हल रखकर संसार-सागर में कूद पड़ता था और दस बीस आदमियों के सम्मिलित कुटुम्ब का पालन-पोषण कर सकता था। बुद्धि ख़र्च किये बिना, थोड़ा विचार किये बिना, आसपास की दुनिया से सबक़ सीखे बिना, अब केवल शारीरिक परिश्रम और मितव्ययी स्वभाव से कुछ न हो सकेगा। यदि आप कपड़े के दूकानदार हैं तो पहले इस बात का निर्णय होने की कोई आवश्यकता नहीं है कि आप कितने देवताओं को मानते हैं अथवा आपकी समझ में कौनसी सबसे उत्तम राजनीति-सम्बन्धी पुस्तक प्रकाशित हुई है, किन्तु आपको हज़ार मील की दूरी से यह अवश्य जान लेना चाहिए कि बम्बई, कलकत्ता और मेनचेस्टर में इस समय कपड़े का क्या भाव है। जो मनुष्य किसी काम में नये शोधों की कुछ परवा नहीं करता अथवा जो अपनी बुद्धि और आँखों को बन्द रखता है वह कभी सफल नहीं हो सकता।

अमेरिका के निवासी अपनी मौलिकता और नूतन-आविष्कार-प्रियता के लिए समस्त संसार में प्रसिद्ध हैं। परन्तु नक़ल करने में भी उनसे बढ़कर कोई नहीं मिल सकेगा। फल यह होता है कि नये व्यवसाय या आविष्कार की छीछा-लेदर, दुरुपयोग और पतन जितनी जल्दी वहाँ होता है उतनी

जल्दी कहीं नहीं होता। वहाँ संसार का छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा व्यापार नवीनता और मौलिकता के आकर्षक वस्त्रों में मढ़ दिया जाता है। ज्यों ही दूसरे लोग उसकी सफलता और लाभ को देखते हैं त्यों ही उस व्यापार में एक दो नहीं, हज़ारों मनुष्य, कूद पड़ते हैं। वहाँ का व्यापारी जनसमुदाय समुद्र के ज्वार-भाटा की तरह बड़े वेग से एक ही ओर दौड़ पड़ता है और अन्त में सबके सब किसी चट्टान से टकरा कर दिवालिये बन जाते हैं। आज भारतवर्ष के कई शहरों में भी वकीली पेशे और नौकरी की यही दशा है। किसी आदमी की बुद्धि के द्वारा ढूंढ़े गये किसी एक लाभकारी उद्योग में इस तरह की भीड़ करने से उसमें होनेवाली आमदनी बहुत ज़्यादा घट जाती है और उसकी अधोगति हो जाती है। इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि विश्व-विजय करने के लिए कोई नैपोलियन किसी सिकन्दर की पुरानी तलवार को ढूँढ़ता फिरे।

साहित्य-क्षेत्र में तो मौलिकता के बिना काम चलना बड़ा ही कठिन है। ख्याति प्राप्त करने के लिए और अपने समय के बाद भविष्य में अपना नाम स्थिर रखने के लिए ऐसी बातें कहनी या लिखनी चाहिएँ जो सचमुच कहे या लिखे जाने के योग्य हैं और जो तुम्हारी शैली के अनुसार पहले लिखी और कही न गई हों। अक्षरशः नक़ल और चोरी करने से लाभ कुछ नहीं होता। इसकी टेव पड़ जाने से मौलिकता का नाश होता जाता है। प्रायः देखा जाता है कि ज्योंही किसी सिद्धहस्त ग्रन्थकार का कोई उदात्त-विचार-पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होता है त्योंही उसके छोटे मोटे नक़ली स्वरूप भिन्न भिन्न आवरणों की ओट में भिन्न भिन्न आकार में प्रकाशित

किये जाते हैं। परन्तु ये सब उस मूल ग्रन्थ के तेज के सामने फीके पड़ जाते हैं। सच है, मूल ध्वनि को चिढ़ानेवाली प्रतिध्वनि धीमी ही रहा करती है। अथवा, अनुकरणकर्त्ता अनुयायी अगुआ के पीछे ही चलता है। लेखकों को इस निन्दनीय अनुकरण-शीलता और मूर्खता का तिरस्कार करना चाहिए।

किसी नव-लिखित अथवा प्रकाशित ग्रन्थ का अपमान "उँह! वह तो नक़ल है" कह देने से हो जाता है। इसलिए किसी उधार की अथवा चोरी की वस्तु में अपने को गौरवान्वित समझने की अपेक्षा अपने रद्दी या छोटे से स्वतन्त्र कार्य को ही "मेरा है, किसी दूसरे का नहीं" कह सकना अधिक शोभाप्रद है। कौवे को उचित है कि वह हँस के पङ्ख धारण करने के लिए लालायित न हो। यदि तुम संसार के हित के लिए कुछ लिखना चाहते हो तो चोरी, झूँठ और नक़ल-बाज़ी का सहारा न लेकर संसार को यह बतलाओ कि अमुक विषय पर तुम्हारे आत्मा की क्या सम्मति है। यदि तुम्हारे आत्मा और मनोदेवता के विचार उपयोगी, सत्यपूर्ण और विशाल हैं तो संसार तुम्हें अपने हृदय में स्थान देगा। यदि वे हानिकारक, असत्यपूर्ण और सङ्कीर्ण हैं तो भी कोई हर्ज नहीं। केवल यही होगा कि तुम एक साहस के, परन्तु सत्यता के, साथ प्रारम्भ किये गये पवित्र कार्य में असफल हो जाओगे। और इससे लाभ यह होगा कि तुम्हारे देश में एक असत्य, कपटी और चोर लेखक या ग्रन्थकार के बदले एक नया और सच्चा दुकानदार नौकर, चित्रकार या किसान दिखाई देगा। इसलिए सदा अपनी सम्मतियों और विचारों को ही प्रकाशित किया करो।

स्मरण रहे कि, यहाँ असम्भव मौलिकता का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं। उत्तम से उत्तम और मूल-लेखक को भी, मधुमक्खी की तरह कई स्थानों से सामग्री अवश्य एकत्रित करनी पड़ेगी। परन्तु उन सब पर अपनी छाप भी उसी तरह से जमा लेनी चाहिए जैसे मधुमक्खी जमा लिया करती है। वह मक्खी अनेक प्रकार के फूलों से रस एकत्रित करती है, परन्तु मधुरस में किसी ख़ास फूल की गन्ध नहीं आने देती। लेखकों, ग्रन्थकारों और कवियों को भी यही करना चाहिए। गुसाईं तुलसीदास अपने स्वाभाविक तुलसीदासत्व से ही संसार को देदीप्यमान और मोहित कर सकते हैं पर इससे महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास अथवा सूरदास की विशेषताओं, गुणों और प्रतिभा में कमी अथवा फीकापन नहीं आता। सभी को उचित है कि वे अपने विचारों को अपने शब्दों में अपनी प्रणाली से व्यक्त करें। ढूंढ़नेवाले, इतिहास शोधकों को ऐसे सैकड़ों ग्रन्थकारों, लेखकों और कवि-खद्योतों का पता लग सकता है जो बन्दर की सी अनुकरणशीलता के कारण आज विस्मृति के अनन्त गर्भ में सदा के लिए डूब गये हैं, आज किसी को उनका नाम तक याद नहीं है।

इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि तुम अपनी मौलिकता, कार्य-प्रणाली और स्वतन्त्र विचार शैली को बनाये रक्खो। केवल इसी से तुम्हारा यश बढ़ेगा और वह स्थिर भी रह सकेगा। जब तुम अपने आत्मा का हनन कर और स्वयं अपने प्रति सत्यता का आचरण न रखकर अपने आपको घृणा करते हो तो इस बात की भी आशा छोड़ दो कि संसार आदर करेगा। तुम अपने प्रति पहले सच्चे बनो, फिर संसार भी तुमसे सत्यता

का व्यवहार करेगा। तुम्हारी व्यक्तिगत विशेषता ही तुम्हें संसार का आदरपात्र बना सकती है। यदि तुम पगड़ी बाँधते हो और इसमें तुम्हारा स्वाभाविक प्रेम है तो इस बात की कोई ज़रूरत नहीं कि दूसरों को देख कर तुम्हारी पगड़ी टोपी से बदल दी जाय। तुम्हारी विशेषता, विभिन्नता, और स्वतंत्रता उस पगड़ी से ही भली भाँति सिद्ध होती है।

इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि सफलता केवल अनुकरणशीलता में नहीं है। बिना मौलिकता के कुछ नहीं होगा। जो कुछ काम, व्यवसाय अथवा सांसारिक व्यापार किया जाय उसमें जबतक उसके करनेवाले कर्ता का प्रतिबिम्ब न हो तबतक यही समझना चाहिए कि उसमे कुछ न कुछ अंश माया-मय, असत्यपूर्ण और वंचकता से भरा हुआ है। इसलिए मौलिकता—व्यक्तिगत विशेषता—की सच्ची छाप समस्त जीवन के प्रत्येक कार्य में होनी चाहिए।

१८-छोटी २ अर्थात् तुच्छ बातों पर ध्यान देना।

टी छोटी बातों पर ध्यान देना भी सफलता के लिए एक आवश्यक गुण माना गया है। कुछ दिन पहले एक अतुल द्रव्यवान् व्यापारी से पूछा गया था कि उसने अपनी सारी सम्पत्ति किस तरह कमाई थी। क्या उसे केवल अच्छा संयोग मिल जाया करता था? नहीं, क्योंकि उसके अन्य साथियों को भी उत्तम से उत्तम भाग्यशाली अवसर मिला करते थे। तो क्या वह केवल अपने परिश्रम के द्वारा सफल हुआ था? हाँ, उसका परिश्रम सफलता के कुछ अंशों में सहायक अवश्य हुआ था, परन्तु पूरा पूरा नहीं, क्योंकि और भी बहुत से ऐसे अन्य व्यापारी थे जो उससे भी अधिक परिश्रम किया करते थे। उसकी सफलता का सबसे बड़ा कारण यही था कि वह अपने व्यापारसम्बन्धी छोटी छोटी बातों की लापरवाही कभी न करता था। उसका कथन है कि बहुत से व्यापारी सदा अपने को थोड़ा बहुत विचार करने और तरकीबें सोचने में ही सन्तुष्ट कर लेते हैं और छोटे छोटे आवश्यक कार्यों की पूर्ति का भार अपने असावधान नौकरों पर छोड़ देते हैं, इसलिए वे अकृतकार्य हुआ करते हैं।

उपर्युक्त बातों का अनुभव हमें अपने दैनिक जीवन के बहुत से कामों में होता है। किसी विशेष योग्यता-प्राप्त मनुष्य

की सफलता का कारण तो केवल यही हुआ करता है कि वह छोटी बातों पर बहुधा घृणा करता है। उसका आत्मा उसे महान् कार्यों के करने में प्रेरित करता और विश्वास दिलाता है। किये गये काम का स्मरण करके उस का योग्य हृदय उत्साह से भर जाता है, परन्तु वह मनुष्य विचारों को कार्यरूप में परिणत करते समय उस काम के छोटे छोटे तुच्छ, रूखे और शुष्क किन्तु अत्यन्त आवश्यक, अङ्गों को पूरा करने में उकता जाता है और उन्हें कदाचित् अपना मान-हानि समझ कर छोड़ देता है। इस अवस्था को देख कर हम कह सकते हैं कि यह संसार अनेक छिपे और लापरवाह विद्वान् तथा योग्य मनुष्यों से भरा पड़ा है। केवल उनमें वह गुण नहीं है जो संसार में ख्याति-लाभ करनेवाले व्यक्तियों में चाहिए। किसी छोटे से अवगुण अथवा दोष के कारण उनकी समस्त योग्यताओं और विशेषताओं का समूह बेकाम और सन्निपात-ग्रस्त हो जाता है। वे उस नर्तक के समान होते हैं जो अपनी कला में पूर्णतया निपुण होकर भी थोड़ा सा लंगड़ा था।

ऐसे ही मनुष्य सदा अपने भाग्य की शिकायत किया करते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति की ओर देखने से मालूम होता है कि वे अपने जीवन के छोटे छोटे कामों को पूरा करने में असावधान होकर असफल हो जाते हैं, इसलिए संसार फिर उन्हें कभी कोई बड़ा काम नहीं सौंपता। सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पहले पहल छोटी बातों पर ध्यान ही न दिया जाय बल्कि उन पर प्रेम भी उत्पन्न किया जाय। इस नियम का तिरस्कार करके विशेष योग्यता, उच्च विचार और उचित उत्साह से भी काम पूरा नहीं हो सकता।

बस, यहीं पर कार्यकर्ता मनुष्य में और ऊँघते ऊँघते विचार के पुल बनानेवाले मनुष्य में भेद पाया जाता है। साहित्य-क्षेत्र और अनेक ललित कलाओं में भी सफलता तब तक नहीं मिल सकती जब तक छोटी बातों और विभागों पर बर्षों तक सतत परिश्रम-पूर्वक ध्यान न दिया जाय। यदि कोई वकील अपने मुकदमे की किसी छोटी सी बात को अनुपयोगी समझ कर उचित पूछ ताँछ न करे, यदि कोई दस्तावेज़ लिखनेवाला एक उपयोगी शर्त को तुच्छ समझ कर न लिखे, यदि कोई घर बनानेवाला दीवाल अथवा नींव की थोड़ी सी कमज़ोरी की परवा न करे, यदि कोई लेखक अपने लेख को दुबारा न देखकर उसमें व्याकरण-सम्बन्धी तथा दृष्टि की कुछ और भूलें पड़ी रहने दे, अथवा कोई सेनापति अपने सिपाहियों में से दस-पचास के शस्त्रों को टूटा फूटा ही रहने दे, तो यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि कितनी अधिक और नाशकारी हानि होने की सम्भावना है।

दुनिया में प्रसिद्धि-प्राप्त पुरुषों का नाम केवल उनकी सार्वत्रिक योग्यता और परिश्रम-शक्ति के कारण ही अमर न होकर छोटी बातों पर उचित ध्यान देने से ही हुआ है। उन्हें अपने काम के बारीक अङ्गों का ध्यान खाते-पीते, उठते-बैठते, आते-जाते, सभी समय, रहा करता था, यहाँ तक कि उन्हें उनका स्वप्न भी हो जाया करता था। वारन हेस्टिंग्स के भाई ड्यूक आफ़ वेलिङ्गटन के उसके भारतवर्ष में रहने के समय के खरीते (Despatches) जब पहले पहल प्रकाशित हुए तब उनमें उसकी भारत-सम्बन्धी चढ़ाइयों का विवरण पढ़कर उसके एक मित्र ने कहा "क्यों भाई वेलिङ्गटन, मैं

समझता हूँ कि भारतवर्ष में तुम्हारा मुख्य काम केवल चावल और बैल एकत्रित करने का था।" वेलिङ्गटन ने उत्तर में कहा कि "अवश्य, मेरा काम वही था, क्योंकि जब मेरे पास चावल और बैल मौजूद रहते थे तब आदमी (सिपाही) भी रहते थे, और जब मेरे साथ आदमी रहते थे तब मुझे यह अच्छी तरह से मालूम था कि दुश्मन किस तरह से जीता जा सकता है।"

हम लोगों का दृष्टि-कोण कुछ विचित्र सा है। हम रवीन्द्रनाथ का महाकवि होना तबतक स्वीकार नहीं करते जबतक वे विलायत से नोबल प्राइज़ पाकर न आ जायँ। दादाभाई नौरोजी की योग्यता को हम तबतक नहीं मानते जबतक किसी विलायती समाचारपत्र में उनकी प्रशंसा-पूर्ण जीवनी प्रकाशित न हो। गोखले को हम उस समय तक अर्थ-शास्त्र-पण्डित और धुरन्धर राजनीति-कुशल नहीं कहते जब तक कोई विदेशी अफ़सर उनकी पीठ न ठोके। इसी तरह हम अपने देश के किसी व्यापारी को बुद्धिमान कार्य-कुशल और योग्य नहीं कहते जबतक कि वह अपने ख़ज़ाने में हमें दस करोड़ रुपया न दिखा दे। पर क्या लक्ष्य-सिद्धि ही सफलता की एकमात्र कसौटी है? क्या कार्य-साधन प्रणाली में और उसके अन्तरङ्ग अङ्ग-प्रयत्नों में हमें सफलता का बीज नहीं दीख सकता? यदि दीख सकता है तो हमें उचित है कि लक्ष्य के नाम पर माला फेरते न बैठकर हम उसके साधन के विभागों—छोटे से छोटे और रूखे हिस्सों—पर आवश्यक ध्यान दें और प्रत्येक अवसर से लाभ उठावें।

शान्ति-पूर्ण कामों और व्यवसायों में जिस तरह छोटी छोटी बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है उसी तरह युद्ध-

सम्बन्धी कार्यों में भी है। जिस महान् विश्वविजयी सेनापति का नाम किसी देश में बड़े गौरव और अभिमान के साथ लिया जाता है वह एक छलाँग कूद कर ही वड़ा भारी सेनापति नहीं बन जाता। केवल उसके अच्छे अच्छे, मीठे और उदात्त विचार ही उसके यश के कारण नहीं हो जाते। उसे सेनासञ्चालन के—भोजन, वस्त्र, जूते, शस्त्र और सिपाहियों की आरोग्यता आदि के-सम्बन्ध की छोटी छोटी अनेक बातों पर रात दिन ध्यान देना पड़ता है। एक लाख तुच्छ बातों पर ध्यान देने से और एक लाख आज्ञायें देकर अनेक बार भयङ्कर निराशाओं का सामना करने पर, कहीं उसे एक विजय मिलती है। उसे अपने देशभाइयों से यह सुनकर कितनी स्वर्गीय प्रसन्नता होती होगी कि "देखो, हमारा, वीर और विजयी सेनापति आ रहा है।" परन्तु इस मोहक वाक्य को सुनने के पहले न जाने उसे कितनी वार काँटों और कीचड़ में चलना पड़ता है, फटे पुराने नकशों के साथ आधी रात के समय धुँधली रोशनी में बैठकर मस्तिष्क लड़ाना पड़ता है। जब हम और आप ऊनी कपड़े पहन कर खुर्राटे लेते हैं उस समय उसे भीगे हुए कपड़ों के साथ मच्छड़ों के बीच, दलदली ज़मीन में, भूखे रह कर, सिर दर्द की परवा न करते हुए, रात बितानी पड़ती है। उसे स्वयं अपनी और अपनी सेना की आवश्यकता, योग्यता, कमज़ोरी आदि का ज्ञान ठीक उसी तरह रहता है कि मानो लड़ाई में जाने के समय से घर वापस आने के समय तक अवश्यम्भावी विजय का पूरा कार्यक्रम उसने पहले ही बना लिया हो। इतना सब कर चुकने पर, उसके पहले नहीं, वह अपने देश भाइयों को राष्ट्रीय-विजय की माला पहनाने के लिए वापस आता है

और तभी उसकी "जय" चिल्लाते चिल्लाते उसके देशवासियों के गले में सूजन हो जाती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका एक अच्छा उदाहरण नैपोलियन है। उसकी महान् आश्चर्यकारी सफलताओं का रहस्य क्या है? यही न कि, वह अपने सब कामों की तुच्छ से तुच्छ तफ़सीलों को स्वयं करता था। वह मातहतों को काम सौंपकर निश्चिन्त कभी नहीं बैठता था। इसके बारे में यहाँ तक कहा जाता है कि उसने, उस विश्वविजयी वीरशिरोमणि ने हम्माली और कुली का काम भी, समय पड़ने पर, स्वयं किया था। वह एक जगह स्वयं लिखता है कि छोटे बड़े सभी कार्यों को स्वयं करने में देखरेख करने की अपेक्षा उसे इतना अधिक आनन्द मिलता था "जितना किसी तरुण युवती को उपन्यास पढ़ने में मिलता हो।"

छोटे छोटे कामों के संयोग से बड़ा काम बनता है। मनुष्य भी छोटे से ही बड़ा होता है। छोटे छोटे पञ्चतत्त्वों से ही यह सारी सृष्टि बनाई गई है। रेती के छोटे छोटे कणों से अनन्त समुद्र का किनारा बनता है। छोटे छोटे पाषाण-खण्डों और और वृक्षों से ही हिमालय का पहाड़ बना है। और मनुष्य के समस्त जीवन का सुख भी, छोटी छोटी बातों के सिवा किससे बनता है? छोटे के आधार से ही बड़े का बड़प्पन है। अपने अपने उचित स्थान और समय में छोटी चीजें भी बड़ी और महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए इनकी अवहेलना या तिरस्कार न करके इन पर उचित ध्यान दिये बिना किसी सफलता की आशा करना दुराशामात्र है। अब यहाँ पर जर्मी वेन्थम नामक एक लेखक के उपदेशपूर्ण शब्दों को उद्धृत कर इस लेख को समाप्त करते हैं। आशा और विश्वास

है कि हमारे प्यारे विद्यार्थी भाई अपने जीवन-संग्राम में विजयी होने के लिए इस उपदेश पर अवश्य ध्यान देंगे :—

Stretching out his hands to catch the stars, man forgets the flowers at his feet so beautiful, so fragrant, so multitudious, and so various"

अर्थात् "तारागण" को हस्तगत करने की इच्छा से मनुष्य अपने हाथों को ऊपर फैला देता है, परन्तु वह अपने पैरों के नीचे के सुन्दर, सुगन्धित अनन्त और विविध-गुण-रूपयुक्त मनोहर कुसुमों को भूल जाता है।

१८—निर्णय-शक्ति

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध साधु श्रीतुकाराम का वचन है—"निश्चयाचें बल, तुकाम्हेण तेचि फल" अर्थात् निश्चय का बल ही सफलता है। सच है, इस कथन की सत्यता में कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता कि बिना निर्णय-शक्ति के सफलता का मिलना असम्भव है। यह केवल नैतिक शक्ति न होकर कुछ अंशों में शारीरिक शक्ति भी है। यह केवल मानसिक श्रेष्ठता की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वभाव के भेदों पर अधिक अवलम्बित रहती है। यदि संसार के अचूक निर्णय शक्तिवाले कुछ ऐतिहासिक पुरुषों का हाल मालूम किया जाय, तो यही बात सिद्ध होगी कि उनमें से प्रायः सभी में शारीरिक दृढ़ता बहुत अधिक थी। इसका यह आशय नहीं है कि उन लोगों को कभी पीड़ा, कष्ट अथवा बीमारी नहीं होती थी या उन में शारीरिक बल की अमानवी मात्रा रहा करती थी। किन्तु इस का आशय केवल इतना ही है कि उनमें एक प्रकार की ऐसी शक्ति रहा करती थी जिसे हम कमज़ोरी और सुस्ती के विरुद्ध कह सकते हैं और जिससे सहनशीलता तथा निरन्तर परि-श्रम-शीलता की वृद्धि में सहायता मिलती है। कोई कोई इस अचूक निर्णय-शक्ति को ईश्वर की एक अपूर्व देनगी मानते हैं। परन्तु हम समझते हैं कि उचित शिक्षा, संस्कार और अभ्यास की सहायता से यदि इसकी आदत डाली जाय

तो प्रत्येक मनुष्य उसका विकास कर सकता है, क्योंकि इस गुण का संस्कार थोड़ा बहुत प्रत्येक मनुष्य में स्वाभाविक रहता ही है।

चाहे मनुष्य कितना भी योग्य क्यों न हो जबतक किसी काम को करने के लिए उसका इरादा बिलकुल पक्का न रहेगा तबतक वह जीवन की दौड़ में केवल धक्के ही खाता रहेगा। कंटकाकीर्ण पथ में सिद्धि केवल उसीको मिलती है जो सफलता पाने की दृढ़ इच्छा रखकर किसी एक बात का निर्णय करे और अच्छे खिलाड़ी की गेंद की तरह हर बार उतनी ही तेज़ी और शक्ति के साथ ऊपर उठने की कोशिश करे, जितनी शक्ति के साथ आपत्तियाँ इसे नीचे पटक देने का प्रयत्न करें। हाँ, यह सच है कि किसी बात का निर्णय बड़ी सावधानी, दूरदर्शिता और बुद्धिमानी के साथ करना चाहिए, निर्णय करते समय वर्तमान और भविष्य का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इतना करने पर भी सफलता तभी मिलेगी जब उस निर्णय में पूरा पूरा विश्वास हो और उसके अनुसार काम करते समय यदि कुछ शारीरिक कष्ट सहना पड़े अथवा स्वार्थ-त्याग करना पड़े, तो इसके लिए भी तैयारी रहे। बहुत से आदमियों का निर्णय ऐसा श्रेष्ठ होता है कि उतना अच्छा निर्णय संसार में बहुत कम मनुष्य कर सकेंगे, परन्तु अपने निश्चय के अनुसार काम आरम्भ करने का साहस या धैर्य नहीं रखते। फिर, जब समय बीत जाता है तब उत्तम निश्चय के अनुसार काम करने पर भी सफलता नहीं मिल सकती। कुछ आदमी ऐसे होते हैं जो पूरा पूरा विचार तथा निश्चय कर लेने पर फिर अपने ही निर्णय में शङ्का करने लगते हैं और फिर उसके सम्बन्ध में अपने

कुटुम्बियों तथा मित्रों से परामर्श करना आरम्भ कर देते हैं। सभी मनुष्य एक ही प्रकार का मत अथवा राय नहीं देते। फल यह होता है कि अपने किये गये निर्णय के अनुसार काम न होकर मौक़ा चूक जाता है। यदि मौक़ा पूरी तरह से न भी चूके और अधिकांश का मत निर्णय के अनुकूल ही हो, तो भी काम में पूरी सफलता नहीं होती क्योंकि निर्णय के अनुसार ठहराये गये मार्ग पर चलने का बहुत सा समय केवल परामर्श, सलाह और सम्मति में ही व्यतीत हो जाता है। इस लिए ठीक समय पर उत्तम निर्णय करने के साथ ही कार्यारम्भ भी तुरन्त कर देना चाहिए। यदि यही बात मानसशास्त्र के कुछ कठिन शब्दों में कही जाय तो हम कह सकते हैं कि बुद्धि द्वारा निर्णय हो जाने पर जिस प्रकार मानसिक भाव को अनुकूलता अपेक्षित है, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों को कर्माचरण में लगा देने की आदत भी अत्यन्त आवश्यक है इसी सिद्धान्त को सब नैतिक आचरणों की और जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति की जड़ समझनी चाहिए।

कभी कभी ऐसा प्रसङ्ग आ जाता है कि सोचने विचारने का समय नहीं रह जाता, साथ ही क्षण भर के निर्णय से ही महान् कार्य करना पड़ जाता है। ऐसे अवसरों को वे ही संभाल सकते हैं जिनका मन शान्तिपूर्ण हो, और बुद्धि गम्भीर तथा व्यापक हो क्योंकि ऐसे प्रसङ्ग उन्हीं लोगों के सम्मुख आते हैं जिन्हें कोई भयंकर प्रतिद्वन्द्विता या संग्राम करना पड़ता है। एक ही मिनट के इन नैतिक निर्णयों पर किसी बड़े उद्देश का अच्छा अथवा बुरा परिणाम अवलम्बित रहता है। युद्ध और व्यापार में ऐसे अनेक मौक़े आते हैं। युद्ध में कभी कभी एक क्षण में यह विचार कर लेना पड़ता है कि बड़ी से बड़ी अमुक सेना

को कहाँ भेजना चाहिए और दूसरे क्षण उसे भेज भी देना पड़ता है, व्यापार का भी यही हाल होता है कि बहुत शीघ्र निर्णय करके करोड़ों रुपयों का सौदा और लेनदेन कर डालना पड़ता है। ऐसे अवसरों में कभी कभी एक यह भी कठिनाई आ पड़ती है कि प्राय: समान महत्त्व के दो कार्यों अथवा वस्तुओं के अनुकूल हमारा निर्णय होने लगता है। अतएव, जब तक हम उन दो में से अधिक महत्त्ववाले काम का निर्णय न कर सकें और साथ ही उस कम महत्त्व के दूसरे काम का त्याग कर देने में लाभ समझ कर ऐसा करने का साहस न करें तब तक कार्यसिद्धि नहीं हो सकती। दोनों की प्राप्ति करने का प्रयत्न करने से दोनों के नष्ट हो जाने की संभावना रहती है।

हाँ, ऐसे अवसर भी अवश्य आते हैं कि जब कुछ अधिक समय तक सावधानी के साथ विचार करना पड़ता है और कुछ विलम्ब करना आवश्यक होता है, ऐसे मौक़ों पर जल्दबाज़ी करना पागलपन का काम होगा। किसी विशेष सीमा तक देरी करने से और कार्य-काल को वृथा बढ़ाते रहने से असफलता ही होने की अधिक संभावना रहती है। ऐसी विशिष्ट-काल-मर्यादा का महत्त्व समझानेवाले मनुष्य अपने जीवन में बड़ा काम कर जाते हैं। बहुत से ऐसे व्यवसायी मनुष्य देखे गये हैं जो ठीक समय पर लाभहानि का उचित निर्णय करके अपार लाभ करने के हेतु कुछ थोड़ी सी जोखिम सहने का साहस किया करते हैं और ख़ासी संपत्ति कमा लेते हैं। पर ऐसे ही अवसरों पर अपनी संपूर्ण बुद्धि-शक्ति की तीव्र परीक्षा होती है।

मानवी जीवन का संग्राम नित्य नया रूप बदलता रहता है। प्रतिदिन कोई न कोई नूतन विषय हमारे तात्कालिक निर्णय के लिए उपस्थित रहता ही है। और, यह तो स्वयम् सिद्ध है कि किसी न किसी प्रकार का स्वार्थ-त्याग किये बिना कोई निर्णय उपयोगी नहीं हो सकता। अतएव विजय और सफलता पाने की इच्छा रखनेवाले के लिए यह उचित है कि वह प्रतिक्षण आनेवाली कठिनाइयों का भीषणता से पूरा पूरा सामना करने के लिए तैयार रहे। ऐसे अवसर कमज़ोर हृदयवाले मनुष्यों को और भी विपत्ति में डाल कर नष्ट कर देते हैं, परन्तु वे ही स्वाभिमानी और सिद्धान्ती पुरुषों को उलटा उत्तेजना दिया करते हैं। कुछ ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन-चरित्र से यह मालूम होता है कि वे सब से उत्तम और महत्त्वपूर्ण काम तभी कर सकते थे जब उन्हें महान् और भयङ्कर आपदाओं का सामना करना पड़ता था। अर्थात् आपदाओं के समय उनकी योग्यता और बुद्धि उन्हें साथ देने के लिए पूर्ण रीति से तैयार रहा करती थी। एक दिन की बात है कि एक सेनापति ने अपने किसी सिपाही पर रुष्ट होकर उसे दो चार कोड़े लगा दिये। सिपाही ने भी गुस्से में आकर अपनी पिस्तौल निकाली और उस सेनापति की ओर फायर कर दिया। वह गोली सेनापति को न लगकर दूसरी ओर चली गई। इस पर सेनापति ने अत्यन्त शान्ति-पूर्ण क्रोध के साथ चिल्ला कर कहा "ऐ सिपाही, मैं तुझे तीन दिन के लिए हवालात में रहने का दण्ड देता हूँ क्योंकि तूने अपने शस्त्रों को ऐसी व्यवस्था के साथ रखना नहीं सीखा है जिससे वे ठीक समय पर उचित रीति से काम दे सकें।"

संसार में शायद ही एकाध ऐसा धंधा होगा जिसमें फुर्ती निर्णय-शक्ति और समय-सूचकता की अत्यन्त आवश्यकता न आ पड़ती हो। वकील को अपनी सारी बुद्धि और निर्णय-शक्ति अपने साथ जागृत अवस्था में रखनी पड़ती है, क्योंकि न जाने मुकदमे की दशा कब बदल जाय, न्यायाधीश और विरुद्ध-पक्षीय लोग क्या पूछ बैठें और अपने समस्त कार्यों की जड़ ही कब उखड़ जाय। वैद्यों और हकीमों को भी अपना सारा ज्ञान हर समय के लिए तैयार रखना पड़ता है, क्योंकि कभी कभी विशेष प्रसंगों पर ग्रन्थ देखने का और सलाह लेते रहने का समय नहीं रह जाता। अचानक विपत्तियों के समय तुरन्त निर्णय करना तो पड़ता ही है, पर कभी कभी निर्णय और विचार करने के लिए एक क्षण भी नहीं मिलता। ऐसे समय का वर्णन करते हुए डाक्टर जान ब्राउन कहते हैं कि "ऐसे अवसरों पर मन की विचित्र दशा होती है। इसकी तुलना करने के लिए कहा जा सकता है कि यह ठीक वैसी ही दशा है कि जैसे कोई मनुष्य भरी हुई पिस्तौल को अपने सिरहाने रखकर सोया हो और किसी अनिष्ट, भय या विघ्न की आशङ्का करके अचानक उठकर उस पिस्तौल को किसी की ओर दाग दे। उठने पर उसे यह नहीं मालूम रहता कि उसने ऐसा क्यों किया। वह केवल इतना ही जानता है कि उसने वह काम किया। सच बात यह है कि वह काम पहले किया गया और विचार पीछे हुआ। पहले विचार करने पर समयोचित काम होने की सम्भावना ही न थी। इस प्रकार मन की जागृति और समय-सूचकता के साथ अचानक उचित काम कर डालना केवल उन लोगों को ही सम्भव है जिनकी निर्णयशक्ति बहुत उत्तम, अभ्यस्त और बढ़ी चढ़ी हो।"

अचूक निर्णयशक्ति, समय-सूचकता और प्रसंगावधान एक ही गुण के नाम हैं। सङ्कट आ पड़ने पर घबराते हुए उससे पार पाने की युक्ति ढूँढ़ निकालने की जो मन की शान्त स्थिति होती है उसे प्रसङ्गावधान कहते हैं। इस सद्गुण के होने से क्या क्या लाभ हुआ करते हैं तथा अभाव में कैसी हानियाँ हुआ करती हैं इसके सम्बन्ध में अनेक कहानियां हैं। यहाँ पर हम बम्बई प्रान्त के शिक्षा-विभाग की मराठी की पाँचवीं पुस्तक के एक पाठ से इस विषय पर एक उदाहरण देते हैं। बम्बई शहर के पास एक स्थान में एक धनी गृहस्थ सपत्नीक रहता था। उसने अपने शयन गृह में एक छोटा सा कमरा जवाहिरात, सम्पत्ति तथा बहीखाता आदि रखने के लिए बना लिया था। एक दिन उसे कार्यवश अपने स्त्री-बच्चों को अकेले छोड़ कर बाहर जाना पड़ा। वह कोष आदि की कुञ्जियाँ अपनी स्त्री को सौंप कर चला गया। रात को सोने के समय जब वह स्त्री अपने शयन-गृह में जा रही थी तब उसने देखा कि उसके पलङ्ग के नीचे एक डाकू शस्त्र सहित छिपा बैठा है। वह स्त्री बड़ी बुद्धिमती थी। मन में किसी तरह का भय न लाकर वह अपने पलङ्ग के पास इस तरह से चली गई मानो उसने उस डाकू को देखा ही न हो। स्त्री ने वापस भागना अथवा चिल्लाना उचित नहीं समझा। पलङ्ग पर जाकर सोने का बहाना करके उसने कुञ्जियों के गुच्छे को हिकमत के साथ पलङ्ग से नीचे की ओर लटका दिया। कुछ देर में जब उस डाकू को यह विश्वास हो गया कि स्त्री सो गई है तब उस गुच्छे को सावधानी से लेकर ख़ज़ाने की जगह बगलवाली कोठरी में जा पहुँचा। स्त्री सब कुछ समझ और देख रही थी। ज्यों ही उस

दुष्ट की पीठ स्त्री की ओर फिरी त्यों ही उस स्त्री ने धीरे से झपट कर बाहर से दरवाज़ा बन्द कर दिया और पुलिस में समाचार देकर उस डाकू को उचित दण्ड दिलाया। यदि इस स्त्री में प्रसङ्गावधान का गुण न होता—यदि उसकी निर्णय शक्ति क्षण भर में अचूक सहायता न देती—तो इस में सन्देह नहीं कि उस पर तथा उसके कुटुम्ब और सम्पत्ति पर घोर आपत्ति आ पड़ती।

ऊपर कही हुई इस फुर्ती और शीघ्र निर्णय करने की शक्ति के अभाव में प्रायः अनेक असफलतायें होती हैं। बहुत से मनुष्यों में केवल उतनी ही बुद्धि रहती है जितनी कि सन्निकट आपदाओं का ज्ञान करा देने में पूर्णतया सहायक हो और साथ ही जो हर समय कुछ न कुछ शङ्का उत्पन्न करके उसका समाधान न कर सकने के कारण प्रतिकार का आरम्भ न करने दे। शङ्का और कुतर्क करते करते अन्त में वे निराशामय प्रयत्न किया करते हैं और सच्चा कार्य कुछ भी नहीं कर सकते। भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है कि—"संशयात्मा विनश्यति।" ऐसे मनुष्य का भर्त्सनापूर्ण वर्णन करते हुए एक ग्रन्थकार ने कहा है कि ये सदा केवल "होनहार" ही बने रहेंगे, यथार्थ में कुछ होंगे नहीं। अतएव जो कुछ करना है उसका पूर्ण निश्चय एक बार कर लेना चाहिए और उसके अनुसार कार्य आरम्भ करने में फिर कोई अनावश्यक विचार नहीं करना चाहिए। फुर्ती के साथ समय पर काम न करने से उत्तम से उत्तम निर्णय का आधा मूल्य घट जाता है। जो मनुष्य दृढ़ स्वभाव वाले होते हैं उनका निर्णय और निश्चय ठीक वैसा ही होता है जैसी कि उनकी प्रतिज्ञा या शपथ होती है।

२० — संचित शक्ति

संसार की सभी सेनाओं में 'रिज़र्व फ़ोर्स' रक्खा जाता है। इसके बिना किसी भी युद्ध में विजय पाना असम्भव है। संग्राम भूमि में न जाने किस समय कहाँ कितनी सेना का अचानक काम पड़ जाय। यदि ऐसे अवसरों के लिए एक स्वतन्त्र रिज़र्व फ़ोर्स न रक्खें, तो युद्ध का कार्य एक भी दिन के लिए नहीं चल सकता। इतिहास पढ़नेवालों को मालूम है, कि समय पर अपनी रिज़र्व सेना की सहायता न पा सकने के कारण ही वीरवर नेपोलियन पराजित हुआ था। मनुष्य का जीवन भी एक भीषण संग्राम का उदाहरण है, प्रत्येक मनुष्य को अपने दैनिक जीवन में अस्तित्व स्थिर रखने के लिए अनन्त कठिनाइयों, विपत्तियों, चिन्ताओं, निराशाओं, आपदाओं और आवश्यकताओं से भयङ्कर संग्राम करना पड़ता है। इन बहुसंख्यक जीवन-संग्रामों में अपनी साधारण बुद्धि शक्ति के द्वारा विजय मिलना सम्भव नहीं है, ऐसे प्रसङ्गों के लिए हमारे पास किसी न किसी तरह की सञ्चित शक्ति का होना परम आवश्यक है। जो मनुष्य यह कहते हों कि किसी भी तरह की शक्ति—जैसे द्रव्य, शारीरिक अथवा मानसिक बल, प्रभुता, योग्यता का संचय करने की कोई आवश्यकता नहीं है, उनके कथन का केवल यही अर्थ हो सकता है कि जीवन-

संग्राम में कभी किसी तरह की कठिनाई ही न आवेगी। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन-संग्राम की कठिनाइयों का अन्त केवल जीवन के अन्त के साथ ही होता है।

हमारे व्यक्तिगत जीवन के संग्राम का स्वरूप जैसा हो उसी के अनुरूप हमें शक्ति भी सञ्चित करनी चाहिए। शक्तियाँ कई प्रकार की होती हैं, जैसे बुद्धि, मन और शरीर सम्बन्धी योग्यता, बल तथा गुण, व्यक्तिगत आदर्श आचरण, सम्पत्ति, प्रभुता, संघशक्ति आदि। इनके सञ्चय करने में दीर्घ अभ्यास, दृढ़ धैर्य और अनुपम स्वार्थत्याग की आवश्यकता होगी। परन्तु किसी भी कार्य अथवा व्यवसाय के लिए विशिष्ट प्रकार की किसी एक भी उपयोगी शक्ति का सञ्चय करना सरल काम नहीं है। शक्ति-सञ्चय करने का मार्ग बड़ा कठिन होता है। इसी मार्ग में मनुष्य की परीक्षा होती है। आजकल जो चारों ओर अनन्त असफलतायें होती दिखाई पड़ती है उनका एकमात्र कारण यह है कि बहुत से मनुष्य इस मार्ग की कठिनता को या तो सहन नहीं कर सकते अथवा सहन करना नहीं चाहते। इसलिए जीवन के मार्ग की कठिनाइयों को सहने की आदत डालना चाहिए। बहुत से विद्यार्थियों में स्वावलम्बन और शक्ति-सञ्चय करने की इच्छा न होने से, अर्थात् इस आदत के अभाव के कारण यह देखा जाता है कि वे अपना सब कार्य "कुञ्जियों' मार्गदर्शिकाओं" आदि से ही लिया करते हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अध्ययन तथा विद्याप्राप्ति की कठिनाइयों से डर कर और इस तरह से अनुचित साधनों का आश्रय लेकर वे अपने विद्यार्थी-जीवन की संग्राम-शक्ति को नष्ट करते हैं। यह नियम है कि एक विरोधी कठिनाई के जीतने से, जीवन-

संग्राम की विजय के लिए, हमारी रक्षित तथा सञ्चित शक्ति में एक नया तथा अनुकूल अंश बढ़ जाता है। यदि कोई विद्यार्थी अपनी किसी कठिनाई का हल बिना किसी की सहायता के स्वयं कर ले, तो यह उसके लिए अपने ऊपर एक सच्ची विजय है और यह उसको फिर भी किसी दूसरी विजय-प्राप्ति के लिए उत्साहित करेगी।

सञ्चित शक्ति में एक और बड़ा भारी गुण होता है। वह कार्यकारिणी शक्ति को सुदृढ़ सबलता प्रदान करती है। उससे यह मालूम हो जाता है कि जो काम किया जा रहा है उसके पीछे कोई सजीव मनुष्य भी है। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि किसो अच्छे से अच्छे वक्ता के शब्दों का प्रभाव तबतक नहीं पड़ता जबतक उसमें उत्तम आचरण आदि किसी प्रकार की छिपी हुई तथा सञ्चित शक्ति न हो। संसार में दो प्रकार के ज्ञानी, विचारक और लेखक, ग्रन्थकार अथवा कवि होते हैं। एक वे जो अनेक सच्ची तथा अच्छी बातें बतलाते हैं अथवा लिखते समय अनेक सत्यों का पता लगाने का मार्ग खोलकर विचारशक्ति तथा बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं। ये दूसरे प्रकार के मनुष्य विचारसूचकता और सजीवता उत्पन्न करते हैं, अतएव इनके कार्यों का महत्त्व सदा के लिए अधिक हो जाता है।

संचित शक्ति के होने से एक यह भी लाभ होता है कि यदि वह पराजय से हमें बचा नहीं सकती तो कम से कम उस दशा में हमें निराश और खेद से अवश्य बचा सकती है। साथ ही वह हमें सदा आत्मविश्वास और शालीनता सिखाती है। उसके योग से हममें कठिनाइयों का सामना करने का केवल साहस ही नहीं आता, बल्कि उनसे पार पाने की योग्यता

भी आ जाती है। उसके होने से हमें जो एक प्रकार का सन्तोष, सबलता और आध्यात्मिक सुख मिलने लगता है वह अलग है।

जो संचित शक्ति इतनी उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण वस्तु है तो अब यह देखना चाहिए कि उसका संग्रह तथा सम्पादन कैसे हो सकता है। इसके लिए सबसे पहला साधन कठिन परिश्रम तथा सुदृढ़ अभ्यास है। एक विद्वान् लेखक ने कहा है कि 'तुम मुझे यह बतला दो कि तुमने एकान्त में चुपचाप ईमानदारी तथा गम्भीरता के साथ कितना और कैसा परिश्रम किया है, फिर मैं तुम्हें यह बतला सकता हूं कि प्रसङ्ग आ पड़ने पर तुम किस अंश तक सफल हो सकोगे।" इस कथन की सत्यता को कोई भी मनुष्य अपने जीवन में जाँच सकता है। जो मनुष्य प्रत्येक आनेवाले ज्ञात तथा अचानक प्रसङ्गों से सफलता-पूर्वक आलिङ्गन करने को तैयार रहता है, वह वही मनुष्य होगा जिसने वर्षों तक तैयार रहने का अभ्यास किया हो। इसमें सन्देह नहीं कि संसार में किसी किसी एकाध महात्मा, कार्यशील, विद्वान् अथवा बुद्धिकुशल मनुष्य में देखनेवालों को ऐसा दिखाई पड़ता है कि उस में कोई न कोई गुप्त और बड़ी भारी ईश्वरप्रदत्त शक्ति अवश्य है अतएव ऐसे मनुष्यों के कार्यों को देखकर हम आश्चर्य से कहा करते हैं कि यह सब केवल दैवी शक्ति का परिणाम है, पर पता लगाने से यही मालूम हुआ करता है कि यह निरन्तर के कठिन अभ्यास का फल है। एक ही निश्चित विषय की ओर दीर्घ काल तक लगातार परिश्रम करते रहने से उन लोगों की योग्यता अधिकाधिक अभ्यस्त तथा दृढ़ हो जाती है, जिससे वे अपने विषय अथवा कार्य में इतने

सिद्धहस्त हो जाते हैं कि मानो वह उनके लिए कोई खेल हो। यह सच है कि रेलगाड़ी पटरी पर से बड़ी सरलता से फिसलती हुई दौड़ती है, परन्तु प्रति घण्टे चालीस पचास मील दौड़ने की सरलता आने के पहले अनेक प्रकार की कठिनताओं से भी पार जाना पड़ता है। इसके लिए लाखों मनुष्यों को लोहे और कोयले की खानों में, जंगल और पहाड़ों में, तथा मशीनों और दूकानों में काम करना पड़ता है। सारांश यही है कि "यद्यपि सुगमता दीखने में स्वयं तो बड़ी सुन्दर और कोमल कन्या है, तथापि उसका पिता बड़ा पत्थर-हृदय और खरखरा था।"

यहाँ एक बात और बतलाने की आवश्यकता है वह यह कि हमें एक कठिन परिश्रम तथा दृढ़ अभ्यास को केवल युवावस्था में ही नहीं बल्कि समस्त जीवन तक जारी रखना चाहिए। युद्ध और सेनाओं में देखा जाता है कि आरम्भ में तो 'रिज़र्व फ़ोर्स' रखना ही पड़ता है, परन्तु उसे युद्ध-काल में सञ्चित करना और बढ़ाते रहना पड़ता है। जीवन-संग्राम में भी यही काम करना पड़ता है। व्यावसायिक ज्ञान का सम्पादन करना शालाओं में और विद्यालयों में शुरू होना चाहिए, परन्तु उसका अन्त वहीं नहीं हो जाना चाहिए क्योंकि उचित भोजन न मिलते रहने पर शरीर की तरह मन की भी सजीवता नष्ट होती जाती है। इस आवश्यक कार्य की अवहेलना करनेवालों के पास क्या क्या बहाने रहा करते हैं वे हमें मालूम हैं। परन्तु इसके साथ हम यह भी जानते हैं कि इन बहानों के उत्तम बुद्धि-सङ्गत तथा तर्क-अनुकूल होने पर भी जीवन की भयङ्कर असफलता रुक नहीं सकती। खाली हौज़ जिस तरह से पानी नहीं दे सकता, उसी

तरह से खाली मन विचार पैदा नहीं कर सकता। इसलिए अपने कार्य, उद्देश अथवा व्यवसाय विषयक मनन तथा अध्ययन को सदैव जारी रखना ही चाहिए। ऐसा न करने से सञ्चितशक्ति के नाश हो जाने की पूरी सम्भावना है। यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह अभ्यास केवल जन्म भर पालन ही न किया जाय किन्तु वह नियम-पूर्वक चलाया जाय।

आजकल का युग बड़ा उद्वेगजनक, अशान्तिमय, उद्भ्रान्तकारी तथा मायामय है। इसलिए हमें चिन्तन के लिए समय बचाना पड़ेगा। यह युग प्रत्येक योग्य मनुष्य को कुछ न कुछ बाहरी कामों में फंसा कर उसका अधिक समय नष्ट कर देता है। शहरों में प्रत्येक सभ्य तथा शिक्षित मनुष्य के पीछे बहुत से घरू, सामाजिक, धार्मिक आदि झगड़े लगे रहते हैं, अतएव उसके उपयोगी मस्तिष्क का एक बड़ा अंश कई महत्त्वहीन बातों में ख़र्च होता रहता है। वर्षों तक अपनी शक्तियों तथा योग्यताओं को किसी केन्द्र-स्थान में लगाये रखने का अवसर नहीं मिलने पाता। इसका कारण कुछ थोड़े मनुष्यों में असमर्थता और अधिकांश मनुष्यों में धैर्य का अभाव होता है। इसलिए हमारे पास किसी प्रकार की दृढ़ शक्ति का सञ्चय नहीं हो पाता अर्थात् हम अपने जीवन संग्राम में असफल हो जाते हैं।

साहित्य-कार्य तथा साहित्य सेवा से सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्य को विशेष रीति से स्मरण रखना चाहिए कि उसके बौद्धिक जीवन के लिए अवकाश की—जान बूझकर बनाये गये अवकाश तथा विराम की - अत्यन्त आवश्यकता है। चाहे ज़मीन कैसी भी उर्वरा और उपजाऊ क्यों न हो, परन्तु

वह लगातार फसल देने में समर्थ नहीं हो सकती। संसार में ऐसा विचार मानसिक अथवा बौद्धिक हौज़ (मस्तिष्क) कहीं हो नहीं सकता जो कि, उसको बढ़ाने की योजना किये बिना केवल ख़र्च ही करते रहने पर, अल्प समय में बिलकुल ख़ाली न हो जाय। बल्कि यह कहने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि उसे ख़ाली करने की अपेक्षा भरने में अधिक समय और परिश्रम की आवश्यकता हुआ करती है।

शक्ति सञ्चय करने के लिए अपनी योग्यता को एक केन्द्रस्थान पर लगा देने की आवश्यकता तो है ही, परन्तु साथ ही इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि मानसिक संकीर्णता से कुछ नहीं होगा। शरीर की तरह मन का भी पोषण विभिन्नता, नूतनता, उदारता और परिमितता पर ही निर्भर है। सिर्फ़ रोटी खाते रहने से शरीर का पोषण नहीं हो सकता, अन्य वस्तुओं पर भी ध्यान देना पड़ता है। संसार के किसी भी काम में एकाङ्गता तथा पक्षपात से पूर्णता, श्रेष्ठता तथा उत्तमता नहीं आ सकती। इस लिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने कार्य में उत्तमता अथवा पूर्णता पाने का तो प्रयत्न अवश्य करे परन्तु "मनुष्य" की दृष्टि से जो अन्य आवश्यक विषय हैं उनको न भूल जाय। सारांश यह है कि हमें सदा नये मनुष्यों से परिचय करते रहने चाहिए। नये नये विषय के ग्रन्थों को थोड़ा बहुत देख जाना चाहिए और नये नये समाजों, सभाओं और व्यवसायों का ज्ञान प्राप्त करते रहना चाहिए। भिन्न भिन्न मस्तिष्कों के तत्त्वों का रसास्वादन करते रहने से बुद्धि और मन में व्यापकता आती है।

शक्ति सञ्चय करते समय यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अपनी मानसिक अथवा शारीरिक कार्य-शक्ति का अपव्यय अथवा अधिक व्यय करने से अनिष्ट परिणाम हुआ करते हैं। अत्यधिक परिश्रम कभी नहीं करना चाहिए। अधिक परिश्रम करने से कम से कम दो प्रकार की हानियों के होने की सम्भावना नित्य रहती है। एक तो कार्यशक्ति के नष्ट हो जाने से अपने उद्दिष्ट विषय में सफलता नहीं मिल सकती और दूसरी, सफलता मिलने पर उसका उपभोग करने की शक्ति नहीं रह जाती। यदि कोई विद्यार्थी अत्यधिक परिश्रम करके एम० ए० परीक्षा पास हो जाय और परीक्षा फल के ज्ञात होते तक या तो वह मर जाय या सदा के लिए रोग-ग्रस्त हो जाय तो ऐसे विद्याभ्यास से क्या लाभ? विशेषत: मनुष्य-समाज में साहित्य-सेवी, देश तथा समाज के नेता और व्यापारी वर्ग के मनुष्य अपने आप पर ऐसे निर्दय हुआ करते हैं कि वे रात दिन अधिक परिश्रम करके अपने जीवन को नीरस बना कर थोड़े समय में यमराज के अतिथि बन जाते हैं। परिश्रम-शीलता कोई बुरी वस्तु नहीं है। पर क्या "अति सर्वत्र वर्जित" नहीं है? आराम, मनोरञ्जन और विनोद भी उद्योग के समान आवश्यक हैं, क्योंकि इनसे उद्योग का पोषण होता है और दीर्घजीवन होने से स्वार्थ तथा परोपकार का सच्चे स्वरूप में तथा अधिक मात्रा में साधन होता है। निर्जीव यन्त्रों को भी आराम की आवश्यकता होती है इसीलिए यन्त्रों में, रेल के पुलों में और भाप के एञ्जिनों में आवश्यकता तथा सहन-शीलता से अधिक शक्ति तथा दृढ़ता सञ्चित कर रखने का नियम है। व्यवसायी मनुष्यों को—चाहे वे किसी भी प्रकार के व्यवसायी क्यों न हों—अपनी

शक्तियों का व्यय परिमित तथा नियमित रूप में ही करना चाहिए। उन्हें उचित है कि महत्त्वहीन, मूल्यहीन और सार-हीन बातों में शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक शक्ति का व्यय कभी न करें। शक्तियों का व्यय उपयोगी कामों में ही होना चाहिए। मक्खी मारने के लिए लोहे का घन उठाने में बुद्धिमानी नहीं है।

शक्ति-सञ्चय करने के लिए अत्यधिक परिश्रम करने की और कई घण्टों तक मिहनत करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है, ख़ूब जी लगाकर पूरे हृदय के साथ दृढ़ता-पूर्वक कार्य करने की। अत्यधिक और जोशीले परिश्रम से काम न करने से जो कमी होती होगी वह नियमपूर्वक ईमान-दारी से काम करने से सरलतापूर्वक पूरी हो जाती है। प्रकृति का यह नियम और इच्छा है कि सतत काम करने-वाला शरीर अथवा मन केवल नियमित रूप से ही काम किया करे। जो मनुष्य दिन भर में पन्द्रह बीस मील दौड़ने के अभ्यास से आरम्भ करेगा वह समय पाकर दिन भर में चालीस-पचास मील भी दौड़ सकेगा। यही नियम मन से भी सम्बन्ध रखता है।

एक बात और है। जो मनुष्य अपनी सञ्चित शक्ति की वृद्धि करना चाहता है उसे पूरी नींद भी लेनी चाहिए। दिन भर के कार्य से शरीर के सङ्गठन में जो थकावट, ढीलापन अथवा कमज़ोरी आ जाती है उसे पूरा करने के लिए अधिक नींद की आवश्यकता हुआ करती है। बहुत से मनुष्य अधिक रात तक काम करते हैं और तीन चार बजे रात को ही उठ जाते हैं। अलार्म घड़ी के द्वारा बहुत से विद्यार्थियों की हत्या हुआ करती है, परन्तु सच पूछा जाय तो सूर्योदय और

चिड़ियों की चहक से बढ़ कर अलार्म घड़ी कहीं नहीं है। प्रतिदिन आठ घण्टे की नींद में से जो समय निकाल कर बचा लिया जाता है वह समय यथार्थ में बचाया नहीं जाता बल्कि नष्ट कर दिया जाता है। ध्यान रहे कि हम अपने आपको ठग सकते हैं परन्तु प्रकृति को धोखा नहीं दे सकते। प्रकृति अथवा निसर्ग देवता बड़ा भारी चतुर साहूकार है। उससे उधार ले लेकर यदि हम अधिक खर्च अथवा अपव्यय करते रहें तो हमें यह नहीं समझना चाहिए कि उसके पास इसका हिसाब नहीं होगा। हमारा सब अपव्यय हमारे नाम पर दर्ज कर दिया जाता है। अन्त में प्रकृति देवी निर्दयता के साथ मूलधन को मिश्रित ब्याज के साथ वसूल करती है और फल यह होता है कि अधिक परिश्रम, शक्तियों के अपव्यय और नींद की कमी के कारण हम शारीरिक दिवालिये बन बैठते हैं।